नहीं है संसार में। कोई कह सकता है कि सभी का नाम तो आ गया यहाँ, परन्तु सम्यग्दर्शन का नाम ही नहीं आया। तो भइया गुप्ति समिति आदि जो संवर के लिए साधकतम है ये सभी सम्यग्दर्शन के उपरान्त ही संभव है।

कहीं-कहीं ऐसा भी सुनने में आता है कि संयम तो आस्रव बंध का कारण है, तो ऐसा नहीं है। एक गुप्ति को छोड़कर सूत्र में बताये गये संवर के सभी कारण प्रवृत्ति कारक हैं। दशलक्षण धर्म भी प्रवृत्ति रूप है, उसे भी आस्रव की कोटि में रख देंगे तो जीवन सारा अधर्म में निकल जायेगा। इनके साथ आस्रव होते हुए भी प्रधानतया ये सभी संवर के ही कारण हैं। इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिये कि महाव्रत से, चारित्र से एक मात्र बंध ही होता है। आस्रव तो जब तक योग रहेगा, तब तक चलता रहेगा।

तप है, चारित्र है, यद्यपि इनके साथ आस्रव भी होता रहता है लेकिन ये मुख्य रूप से आस्रव के कारण नहीं है बल्कि संवर के कारण हैं। एक कारण अनेक कार्य कर सकता है। 'तपसा निर्जरा'- एक तप के माध्यम से मात्र निर्जरा नहीं होती, संवर भी होता है। 'च' शब्द का अर्थ यहाँ संवर लिया है। उदाहरण भी दिया है कि 'यथा अग्निरेकोऽपि विक्लेदन भस्माङ्गरादि प्रयोजन उपलभ्यते' जिस प्रकार अग्नि एक होने पर भी अनेक प्रकार के कार्य करने में सक्षम है उसी प्रकार यह भी है कि वह अग्नि, धान्य को यदि आप पकाना चाहें तो पका देगी, ईंधन को जला भी देगी और साथ ही साथ प्रकाश भी प्रदान करती है, यदि सर्दी लग रही हो तो उष्णता के द्वारा सर्दी भी दूर कर देती है जिसको सेंकना कहते हैं। इस प्रकार अनेक कार्य हो सकते हैं।

इसी प्रकार तप भी, संयम भी, चारित्र भी ऐसे ही हैं कि एक साथ सब कुछ कर सकते हैं। अभ्युदय का लाभ भी मिलता है और मोक्ष का लाभ अर्थात् संवर और निर्जरा का लाभ भी मिलता हैं। अतः जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहते हैं उन्हें उत्साह के साथ और रुचिपूर्वक इन्हें अपनाना चाहिये। आप लोगों के सामने हार लाकर रख दिया जाये और भले ही वह फूलों का हार क्यों न हो, आप झट से गले में डालने को तैयार हो जाते हैं। तो मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि उमास्वामी महाराज ने इस चारित्र रूपी हार को बनाकर रख रक्खा है। इस हार को पहनने के लिए कौन-कौन तैयार है।

मैं तो इस हार को पहने ही हूँ पर सोच रहा हूँ कि आपका भी जीवन सज जाये इस हार के माध्यम से। आप तो मात्र अभी शरीर के श्रृंगार में लगे हैं। संवर तत्त्व आत्मा का श्रृंगार करने के लिए हमें पाठ सिखाता है। शरीर का श्रृंगार तो आस्रव और बंध का उपक्रम है बंधुओ। उसमें क्यों रच पच

रहे हो? आप स्वयं सोचो, विचार करो, जड़ तत्व के माध्यम से जड़ की शोभा में जड़ बनकर लगे हुए हैं। जड़ के अलग-अलग अर्थ हैं। जड़ तत्व के माध्यम से अर्थात् जितने भी ये आभरण-आभूषण बगैरह है, सभी जड़ हैं, पुद्गल हैं। इनके माध्यम से जड़ की शोभा अर्थात् शरीर की शोभा कर रहे हैं और जड़ की शोभा में लगने वाला जड़ है अर्थात् अज्ञानी है। इसी अज्ञान दशा में तो अनन्तकाल खोया है।

आप कर्म के उदय की ओर मत देखो। कर्म का उदय है, मैं क्या करूँ? कैसे संयम पालन करूँ? कैसे गुप्ति और समिति पालन करूँ? तो बंधुओ। यह तो एकमात्र हमारे उपयोग की कमी है, पुरुषार्थ की कमी है। सम्यग्दृष्टि की आत्मा अनन्त शक्तिमान है। भले ही शारीरिक शक्ति नहीं तो भी भावों के माध्यम से बहुत कुछ संभव है। कर्म के उदय से ही सब कुछ हो रहा है, ऐसा एकान्त नहीं है। इसमें हमारी कमजोरी भी है। हम अपने संवर रूपी पुरुषार्थ में लग जायें तो कर्म उदय में आकर भी यूँ ही चले जायेंगे।

जिस समय आत्म द्रव्य (पुरुष) आत्म द्रव्य की ओर दृष्टिपात करता है। उस समय उदयागत कर्म किसी भी प्रकार से अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। मंद कषाय के माध्यम से यही तो लाभ होता है कि जिस समय वह अपने में लीन हो जाता है तो कषाय इतनी कमजोर हो जाती है कि अपना प्रभाव नहीं डाल सकती है। अनुभाग बंध और स्थिति बंध इसी कषाय पर आधारित होते हैं।

एक मिथ्यादृष्टि अभव्य भी अपनी विशुद्धि के बल पर आस्रव कार्य को कमजोर कर सकता है। वह सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति को अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागर कर सकता है। चार लब्धियाँ जब प्राप्त होती हैं तो प्रायोग्य लब्धि के माध्यम से वह मिथ्यादृष्टि अभव्य भी अपने सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति का जो दर्शनमोहनीय कर्म था, उसे अपनी विशुद्धि के बल पर अपने पुरुषार्थ से अंतः कोड़ा-कोड़ी सागर कर देता है। यदि एक अभव्य जिनवाणी के श्रवण से और अपनी आत्म विशुद्धि के माध्यम से कषाय को इतना कमजोर बनाकर यह कार्य कर सकता है तो मैं सोचता हूँ कि जो भव्य है और निकट भव्य हैं, आप जैसे आसन्न भव्य हैं वे तो ऐसे सहज ही फूँक करके उड़ा सकते हैं उन कर्मों को। लेकिन कमजोरी कहाँ पर हो रही है, यह समझ में नहीं आ रहा है।

एक बार दृष्टिपात करो, अपनी आत्मा की ओर, उस अनन्त शक्ति की ओर। और अन्तर्मुहूर्त के अंदर सारे के सारे कर्म अंतः कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति वाले

हो जायेंगे। दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबंधी यूँ ही चले जायेंगे। कहना चाहिये कि उस आत्मपुरुषार्थ के बल पर जो अनन्तकालीन समुद्र है पाप का, वह एक सेकिंड के अंदर आज भी सुखा सकते हैं और शेष रह सकता है एक चुल्लू भर पानी। इतना पुरूषार्थ एकमात्र सम्यग्दर्शन के माध्यम से हो जाता है।

कहाँ अटके हो? कहाँ फंसे हो? कुछ समय में नहीं आ रहा है। आत्मिक बल के साथ कूद पड़ना चाहिये कर्मों का नाश करने के लिए। जब एक बार जंगल गये हम, तो गाय और गाय के बछड़े वहाँ चर रहे हैं यह तो देखा साथ में यह भी देखा कि गाय तो कूदती नहीं है लेकिन बछड़े का हिसाब किताब कुछ अलग ही है। इतनी तेजी से दौड़ता है वह बछड़ा और करीब दस बार दौड़-दौड़कर पुनः वापिस आ जाता है उस माँ के पास। फिर बाद में ऐसा चुपचाप बैठ जाता है जैसे पसीना आ गया हो, फिर थोड़ी देर में और शक्ति आ जाती है तो पुनः कूदने लग जाता है। इसी प्रकार आत्मा की बात सुनते ही ऐसी चेतना दौड़नी चाहिये कि बस! रुके नहीं! यह एकमात्र आत्म शक्ति की स्मृति या चिन्तन का फल है। कर्मों के उदय के ऊपर ही आधारित होकर नहीं बैठना चाहिये।

संवर और निर्जरा ये दोनों तत्व आत्मपुरुषार्थ के लिए हैं। जो भी कर्म उदय में आ रहे हैं उनका प्रभाव उपयोग के ऊपर नहीं पड़े, इस प्रकार का आत्म पुरुषार्थ करना ही तो संवर है। अगर इन्हीं का अभाव हो गया तो फिर आप क्या करेंगे, एक बार की बात है कि एक राजा ने सेनापति को कहा कि चले जाओ। कूद पड़ो रणांगण में और जो शत्रु आया है, भगाओ उसको। और विजयी बनकर आओ। वह सेनापति कहता है कि एक घंटे बाद जाऊंगा। तब राजा ने कहा कि अरे! एक घंटे के बाद तो वह स्वयं ही चला जायेगा, पर तब जीत उसकी होगी। तेरा काम तो इसलिए है कि जब रणागंण में प्रतिपक्षी आकर कूद जाये उस समय अपनी शक्ति दिखाना चाहिये।

इसी तरह जब मोहनीय कर्म उदय में आये तभी तो आत्म-पुरुषार्थ आवश्यक है। संवर का अर्थ यही है कि दूसरे को भगाकर वहाँ अपना विजयी झंडा लगा देना, उन कर्मों पर विजय प्राप्त कर लेना। एक विशेष बात और कहता हूँ कि आज के जो कोई भी त्यागी हैं, तपस्वी हैं, मोक्षमार्गी हैं और सम्यग्दृष्टि हैं उन्हें कर्मों के अलावा लड़ना पड़ता है वर्तमान पंचमकाल से। इसे कलिकाल भी कहा जाता है। कलि का अर्थ संस्कृत में झगड़ा है। काल के साथ भी जूझना पड़ता है। ध्यान रखना, जिस प्रकार दीपक, रातभर अंधकार से जूझता रहता है इसी प्रकार पंचमकाल के अंतिम समय तक

सम्यग्दृष्टि से लेकर भावलिंगी सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि महाराज भी संवर तत्त्व के माध्यम से लड़ते रहेंगे। श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यिका यह चतुर्विध संघ पंचमकाल के अंत तक रहेगा।

वर्तमान में कम से कम तीन चार सौ मुनि आर्यिका आदि तो होने ही चाहिये, जो संवर तत्त्व को अपनाये हुए हैं। जो आत्मा के परिणाम हैं, आत्मा की परिधियाँ हैं और कर्मों को रोकने वाली एक चैतन्य धारा हैं उसको कहते हैं संवर। वह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र द्वारा उद्भूत होती है आत्मा में। उसको प्राप्त कैसे करें, यह विचार करना चाहिये और जल्दी-जल्दी इस पथ पर आना चाहिये ताकि श्रमण परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे।

विचार करें कि आत्मा के पास जब बंधने की शक्ति है तो उस बंध को हटाने, तोड़ने की भी शक्ति है। किसी व्यक्ति को आपने निमंत्रण दिया है तो उसे बाहर भी निकला जा सकता है। मैंने निमंत्रण दे ही दिया है और अब आ ही गया है तो वापिस जाओ, ऐसा कैसे कहूँ, यदि ऐसा सोचेंगे तो छुटकारा मिलने वाला नहीं है।

एक व्यक्ति बहुत ही सदाचारी था, दयालु था। उसे देखकर एक दूसरा व्यक्ति उसके यहाँ चला जाता है और कहता है कि बहुत परेशान हूँ, बहुत प्यास लगी है और भूखा भी हूँ। थोड़ी प्यास बुझ जायें तो अच्छा रहे। वह दयालु व्यक्ति उसे घर ले आता है और कहता है-ठंडा पानी पी लो भइया, चिंता क्यों करते हो। और वह व्यक्ति पानी पी लेता है और कहता है कि थोड़ी भूख शान्त हो जाये तो अच्छा रहे। वह दयालु व्यक्ति उसके सामने थोड़े काजू, किशमिश रख देता है और कहता है रसोई अभी तैयार हो रही है तब तक यह खाओ, बाद में भोजन कर लेना और वह व्यक्ति खा लेता है। इसके उपरान्त पलंग बिछी हैं तो लेट जाता है और नींद लग जाती है। सुबह हो जाती है और वह व्यक्ति जाने का नाम नहीं लेता। तब दयालु व्यक्ति इशारा कर देता है कि भइया जी, मैं अब अपने काम से बाहर जा रहा हूँ, आप भी....। इतने पर भी जब वह नहीं आता तो बाद में स्पष्ट कह देता है कि आप जाते हैं या नहीं। इतना सुनते ही वह चला जाता है।

आशय यही है कि कर्मों को आपने बुलाया है यह गलती हो गयी है आपसे, लेकिन अब जब इतना ज्ञान हो गया है जिसको बुलाकर हमने गलती कराई है उसको निकाल भी सकते हैं तो निकालने का पुरुषार्थ करना चाहिये। आने वाले कर्मों को रोकने की शक्ति है संवर में। संयम-तप-त्याग आदि

अपनाते ही यह संवर की शक्ति जागृत हो जाती है और आने वाले कर्म रुक जाते हैं। मात्र कर्म का उदय मानकर हाथ पर हाथ रखे मत बैठो। कर्म का उदय, बंध के लिए कारण नहीं है। कर्म का उदय आस्रव के लिए कारण नहीं है किन्तु कर्म के उदय के साथ हमारा सो जाना ही आस्रव और बंध के लिए कारण हो।

'मैंने किया विगत में कुछ पुण्य-पाप। जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप।
होगा न बंध, तबलों, जबलौं न राग। चिन्ता नहीं उदय से बन वीतराग॥'

उदय को देखते बैठे रह जायेंगे तो निस्तार नहीं होने वाला। गलती तो यह कर ली है कि विगत जीवन में हमने रागद्वेष और मोह के वशीभूत होकर कर्मों का आस्रव किया है। कर्मों को बांधा भी है, उनका उदय तो आयेगा ही इसमें कोई संदेह नहीं है। वह उदय में आयेगा और द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भाव को लेकर फल भी देगा। परन्तु ध्यान रखो कि आगे के लिए भी वह अपनी संतति (नये कर्म) छोड़कर चला जाए, वह नियम नहीं है। नये कर्मों के लिए चाहिये रागद्वेष और योग की प्रणाली। मानलो या आस्रव होगा क्योंकि योग है, तो भी कोई बात नहीं, यदि कषाय नहीं है तो वह कर्म चिपकेंगे नहीं, यूँ ही चले जायेंगे। जैसे वर्षा हो रही है और आप अपने मकान को सुरक्षित रखना चाहते हो तो कहीं कोई ट्रेजरी में या लॉकर में ले जाकर तो उसको रखोगे नहीं, वर्षा में भी वह रहेगा, उसकी सुरक्षा तो यही है कि वर्षा का पानी उसमें टिके नहीं।

वर्षा होती रहे परन्तु एक बूँद पड़ी, निकल गयी तब मकान को कुछ नहीं किया। इसी प्रकार योग की प्रणाली के माध्यम से कर्म आ रहे हो तो कोई बात नहीं, हम जितना-जितना कषाय को कमजोर बनाते जायेंगे, क्षीण करते जायेंगे उतना-उतना संसार कम होता चला जायेगा। कर्मों की स्थिति और अनुभाग घटता जायेगा।

''यूँ आया और यूँ ही चला गया जैसे वर्षा प्रवाह बस बहता चला गया।'' अतः जो कर्म बांधे हैं वह उदय में आयेंगे लेकिन नवीन कर्म जो बंधेगे वे कर्मायत्त नहीं है, वे आत्मायत्त हैं अर्थात् आत्मा के ऊपर आधारित हैं। यदि आत्मा जाग्रत है तो किसी भी प्रकार के कर्मोदय से अपने को धक्का नहीं लगेगा।

यहाँ साम्परायिक आस्रव और बंध को रोकने की बात है इसलिए पाप का बंध तब तक नहीं होगा जब तक राग नहीं होगा द्वेष नहीं होगा और रागद्वेष हमारे उपयोग की कमजोरी है। हमारा उपयोग जितना चंचल होता

चला जाता है, उतना ही ज्ञेयभूत पदार्थों को भी हम देय या उपादेय के रूप में इष्ट या अनिष्ट मानकर रागद्वेष करते चले जाते हैं। इसलिए यदि हम आत्मपुरुषार्थ के माध्यम से संयम के साथ, संवर के साथ उस उपयोग को जोड़ दें तो वह बंध के लिए कारण नहीं बनेगा। आचार्यों ने इसीलिए कहा है कि संयम के माध्यम से संवर होता है, मात्र आस्रव नहीं। आस्रव यदि होता भी है तो शुभास्रव होता है जो अशुभास्रव के समान बाधक नहीं है। अशुभ को मिटा देने पर आपको अपने आप मालूम पड़ जायेगा कि शुभ एक औषधि का काम कर रहा है जो स्वास्थ्यवर्धक है।

यदि महाव्रत रूप चारित्र को आस्रव का कारण मान लेंगे तो चौदहवें गुणस्थान में भी आस्रव मानना पड़ेगा, वहाँ महाव्रत का त्याग तो किया नहीं है, अयोग केवली होकर वे ध्यान में बैठे हैं और ध्यान महाव्रत के बिना नहीं होता। इसका अर्थ है कि आस्रव, महाव्रत के माध्यम से नहीं होता, आस्रव का प्रमुख कारण योग है और कषाय भाव है। महाव्रत तो संवर का कारण है, संवर को करने वाला यदि कोई साधकतम कारण है तो वह है गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र- यह बात पूज्यपाद स्वामी ने स्वयं लिखकर समाधान दे दिया है।

संवर के सभी साधकतम कारण बिना महाव्रत के नहीं लेते। बारह भावनाओं का चिन्तन भी महाव्रत धारण करने के उपरान्त ही कार्यकारी होता है क्योंकि वास्तविक बारह भावनाओं के चिंतन से संवर और निर्जरा दोनों होती हैं, और आत्मा की विशुद्धि जितनी-जितनी बढ़ेगी उतना-उतना संवर तत्त्व भी बढ़ता-बढ़ता चला जायेगा और उसके माध्यम से एक दिन यह संसारी प्राणी कर्मों की सारी की सारी निर्जरा करके मुक्ति भी पा सकता है।

कर्मोदय से भयभीत न हों बल्कि हम थोड़ा मन को, अपने उपयोग को, कर्म से, कर्म के फल से और सारे आसपास के वातावरण से मोड़ लें और आज तक जिसका नहीं देखा, जिसको नहीं जाना उस ओर अपने उपयोग को लगा लें तो कर्मोदय का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। जब हम बाहर झांकते हैं उसी समय बाहर की बाधाएँ सताती हैं, और यह झांकना भी स्वाश्रित है, जब झांकने की इच्छा होती है तब झांकते हैं, कर्म के उदय में नहीं झांकते। यदि कर्म के उदय में झांकते हैं तो फिर झांकते ही रहें।

जब फाल्गुन मास आता है उस समय रंग खेलने का समय आता है होली। होली का अर्थ यही है कि उस समय सारे लोग इकट्ठे होकर रंग

खेला करते हैं और आनंद का लाभ लेते हैं। कोई-कोई लोग रंग से बचने के लिए बाहर नहीं निकलते पर मन में यह विकल्प जरूर पैदा हो जाता है कि बाहर क्या हो रहा है यह तो देख लूँ और जैसे ही बाहर झरोके से झांकते हैं उसी समय रंग लग जाता है। इसमें कर्म का उदय नहीं है यह तो मनचलापन है कि बाहर क्या हो रहा है, देख तो लूँ। थोड़े से बाहर गये और सारे के सारे भीग करके आ जाते हैं रंग में।

इसी प्रकार उदय जो है बाहर है और संवर तत्त्व को प्राप्त करने वाली आत्मा अंदर ही अंदर चली जाती है वहाँ तक उस रंग का प्रभाव नहीं पड़ता। बाहर आये कि प्रभाव पड़ा। तो संवर एक कला है। यह आत्मा आस्रव और बंध के उपरान्त जब वह कर्म उदय में आता है तो उदय को सहन नहीं कर पाता और उदय से डरकर संवर तत्त्व को भूल जाता है जिसके फलस्वरूप नया बंध होने लगता है। नये बंध को रोकने का उपाय यही है कि उदय के प्रभाव से बचा जाये।

सपेरे होते हैं न, सपेरे सांप को पकड़ने वाले। वे सांप को क्या ऐसे ही पकड़ लेते हैं जाकर फूलमाला जैसे। नहीं, यूँ ही नहीं पकड़ते। पकड़ने से पहले सांप को बुलाते हैं। जहाँ कहीं भी वह होता है वहाँ से उनकी ओर आ जाता है। तब वे बीन बजाते हैं। बीन की आवाज सुनकर वह सांप उनके सामने आकर बैठ जाता है। जो बांसुरी बजाता है उसको नहीं काटता। उस बीन के साथ-साथ स्वर-से-स्वर समाहित करके वह झूमने लगता है और काटना भूल जाता है। इतनी लीनता आ जाती है संगीत से कि अपने काटने के स्वभाव को भूल जाता है और उसी समय सपेरा उसको पकड़ लेता है और विषदंश निकाल देता है।

मैं सोचता हूँ ऐसे ही जब कर्म का उदय आये तो वीतरागता रूपी वीन बजाना प्रारंभ कर दें। उदय तब कुछ नहीं कर पायेगा, वह आकर भी अपना प्रभाव नहीं डाल पायेगा। वीतरागता में इतनी शक्ति है। राग-द्वेष के माध्यम से आत्मा दुखी हो जाता है और वीतरागता के माध्यम से सुखी हो सकता है। अब आप स्वयं ही सोचें कि आपको सुख चाहिये या दुख। आप झट कह देंगे कि बांटना चाहो तो सुख ही चाहिये मुझे। भइया सुख को बांटा नहीं जा सकता, उसे प्राप्त करने की प्यास जगायी जा सकती है।

जैसे आप लोग जब कोई चीज बना लेते हैं खाने की-खीर, हलुआ आदि तो बांटते नहीं है बल्कि जल्दी-जल्दी खाना चाहते हैं। अगर कोई आकर कह देता है कि यह क्या, हमें भी थोड़ा सा दो। तब आप कह देते

हैं कि वाह भइया पसीना-पसीना हो रहा हूँ सुबह से, तब बना है। तुम बिना परिश्रम के पाना चाहते हो। थोड़ा परिश्रम करो तब मिलेगा। यह खाने की चीज की बात हुई जो कथंचित् बांटी भी जा सकती है लेकिन संवर तत्त्व जिसे प्राप्त होता है स्वयं के परिश्रम से होता है और उसे बांटा नहीं जा सकता। हाँ इतना अवश्य है कि यदि मुझे संवर तत्त्व का आनंद लेते देखकर आपको रस आ जाये तो आप पूछ सकते हैं कि इसको कैसे पाया, तो प्राप्त करने का उपाय बता सकता हूँ, लेकिन दूँगा नहीं क्योंकि दिया नहीं जा सकता।

संवर तत्त्व की मिठास को आज तक आपने नहीं पाया। सोचता हूँ कि इतनी मिठास को छोड़कर आप कहाँ नीम जैसे कड़वे भौतिक पदार्थों में रस ले रहे हैं। संसारी प्राणी की दशा ऊंट के समान है। ऊंट उस दिन बहुत आनंद मनाता है जब कोई नीम का वृक्ष मिल जाता है। पंचेन्द्रिय के विषयों में रस लेना या रस मानना, यही एकमात्र संसार का कारण है। आत्मा के रस को पहचानना चाहिये और उसे प्राप्त करने के लिए संवर-तत्त्व को अपनाना चाहिये।

जब कोई आशीर्वाद दे देता है तो शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार संवर भी एक प्रकार से आशीर्वाद का प्रतीक है। जिसके माध्यम से शक्ति आ जाती है और सारे बाधक तत्व रुक जाते हैं। एक अमोघ शस्त्र है आस्रव और बंध को रोकने के लिए यह संवर-तत्त्व। हम इस संवरतत्त्व रूपी कवच को पहनकर मोक्षमार्गी बन सकते हैं और मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। यह संवर अनन्य कारण है मोक्ष का और इस संवर के लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र आवश्यक हैं। यह सभी संवर के लिए साधकतम कारण हैं। इन सभी की प्राप्ति त्याग के द्वारा ही होगी। बिना त्याग के यह चारित्र रूपी हार को पहनना सम्भव नहीं है। इस चारित्र रूपी हार को पहनकर ही मनुष्य अलंकृत हो सकता है। सफलीभूत हो सकता है। इसके बिना जीवन पतित रहेगा, कलंकित रहेगा। हमें अपने जीवन को कलंकित नहीं करना बल्कि इन चारित्र रूपी आभूषणों से अलंकृत करना है। यही हमारा कर्त्तव्य है। इसी में जीवन की सार्थकता है।

□□

निर्जरा तत्त्व

अभी तक जो कर्मों का आगमन हो रहा था उसका संवर करने के उपरान्त एक रास्ता प्रशस्त हो गया। अब अपना कार्य एक ही रहा कि अपने निज घर में, आत्मा में, हमारी अज्ञान दशा के कारण हमारी असावधानी के कारण जो कर्मों का आगमन हो चुका है उनको एक-एक करके बाहर निकालना है। 'एक देश कर्म संक्षय लक्षणा निर्जरा'- कर्मों का एकदेश अलग होना निर्जरा है।

दस दिन से भी यदि किसी व्यक्ति को निद्रा लेने का अवकाश न मिला हो और यह नींद लेना चाहता हो और आपके घर आकर कहे कि मुझे कोई एक कोना दे दीजिये ताकि मैं पर्याप्त नींद ले सकूँ, और आप भी उसे कहें कि कोई बात नहीं, आइये, यहाँ पलंग भी है, यह गद्दा भी है, तकिया भी है, सब कुछ है और जब वह सोने लगे तो उस समय आप यह कह दें कि हम पांच छह दिन से इस कमरे में नहीं गये हैं। और तो कुछ नहीं है एक बड़ा सा सर्प अंदर गया है इसलिए हम लोगों ने उसी दिन से इस कमरे में सोना ही छोड़ दिया।

अब बताइये, दस दिन से परेशान वह व्यक्ति क्या वहीं नींद लेगा? नींद लेने की इच्छा होते हुए भी वह कहता है कि मैं कैसे नींद लूँ, यहाँ नींद लग ही नहीं सकती। जब मालूम पड़ गया कि यहाँ सर्प है तो अब उसे यहाँ से निकाले बिना नहीं सोऊँगा। और वह व्यक्ति सभी प्रयास करके सर्प को निकालकर ही बाद में शयन करता है।

यह तो सामान्य सी घटना हुई। मैं यह सोचता हूँ कि आप लोग कैसे नींद ले रहे हैं। एक नहीं, दो नहीं, पूरी आठ कर्मों के रूप में एक समय में अनन्तानन्त पुद्गल कार्मण वर्गणाओं के समूह कर्म के रूप में परिणत होकर सर्प की भांति आत्मा के प्रदेशों पर अपनी सत्ता जमाये हुए हैं और आप निश्चिंत होकर सो रहे हैं। इतना ही नहीं, उसके साथ-साथ और शुत्रओं को निमंत्रण देने वाले आत्मगत वैभाविक परिणति रूप शत्रु जो अनादि काल से रह रहे हैं उनके लिए भी आपके द्वारा आश्रय स्थान मिल रहा है। आपकी निद्रा बड़ी विचित्र है।

यदि उस व्यक्ति को नहीं बताया जाता कि यहाँ सर्प है और वह निर्विघ्न रूप से वहाँ सो जाता और निद्रा लग जाती तो भी कोई बात नहीं, उसे ज्ञात नहीं था ऐसा कह सकते हैं। जो संसारी जीव अज्ञानी हैं उन्हें मालूम नहीं है कि आत्मा के शुत्र कौन हैं, मित्र कौन हैं और वे शुत्र के सामने भी सो रहे हैं तो कोई बात नहीं है लेकिन आप लोगों को तो यह विदित हो गया है कि आठ कर्म और उन कर्मों में भी जो रागद्वेष हैं, वे अपने शुत्र हैं फिर भी उन आत्मा का अहित करने वाले शुत्रओं को अपनी गोद में सुलाकर आप सो रहे हैं तो आपका ज्ञान कुछ समझ में नहीं आ रहा है।

'जान बूझकर अंध बने हैं आंखन बाँधी पाटी'- यही बात है। यदि अंधा गिरता है कुंए में तो कोई बात नहीं, किन्तु जानते हुए भी जो जानबूझकर अंधा बन रहा है, वास्तव में अंधा तो वही है। जो अंधा है वह तो मात्र बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा अंधा है किन्तु जो व्यक्ति रागद्वेष रूपी मदिरा पीते हुए जा रहे हैं उनके पास आँखे होकर भी अंधे बने हैं। आँखे होते हुए भी जिस समय आँखों पर पट्टी बांध लेते हैं तो प्रायः करके बच्चे ही यह खेल खेलते हैं। उसको क्या कहते है-आंखमिचौनी। हाँ वही है यह खेल। मैं सोचता हूँ यहाँ सारे के सारे यही खेल रहे हैं-आँखमिचौनी। यहाँ कोई आँख वाला दीखता ही नहीं।

अंधकार में एक व्यक्ति उधर से आ रहा था जो अंधा था, और इधर से जा रहा था एक आँख वाला। दोनों आपस में टकरा गये। आँख वाले के मुख से सर्वप्रथम आवाज आयी कि क्या अंधे हो तुम। जहाँ कहीं इस तरह की घटना होती है तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी गलती नहीं स्वीकारता। जो अंधा व्यक्ति था उसने कहा कि हाँ भइया, आप ठीक कह रहे हैं, मैं अंधा हूँ, मेरे नेत्र ज्योति नहीं है। गलती तो हो गयी, माफ कर देना। दूसरे दिन वह व्यक्ति उस अंधे से फिर मिल गया लेकिन आज उसने देखा कि अंधे के हाथ में लालटेन थी। उसने पूछ लिया कि अरे! तुमने तो कल कहा था कि तुम्हारे आंख नहीं है, तुम अंधे हो, फिर हाथ में यह लालटेन क्यों ले रखी है? लगता है दिमाग ठीक नहीं है। वह अंधा मुस्कराया और उसने कहा कि यह लालटेन इसलिए रखे हूँ कि चूंकि मेरे पास आँख तो नहीं है और मुझे आवश्यकता भी नहीं है लेकिन आप जैसे आँख वाले लोग टकरा न जाये, इसको देखने में आ जाए कि मैं अंधा हूँ। पर इसके उपरान्त भी यदि आप टकराते हैं तो क्या कहा जाये। ऐसा ज्ञान तो मात्र भार रूप है।

जहाँ कोरा ज्ञान होता है उस ज्ञान के माध्यम से जो कार्य करना चाहिये वह यदि नहीं होता तो ऐसे में 'ले दीपक कुएँ पड़े' वाली कहावत चरितार्थ होती है। जिन जीवों को ज्ञात नहीं है कि आत्मा का अहित किस में है, उनकी तो कोई बात नहीं। एकोन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय को तो मालूम नहीं है कि हित-अहित क्या है इसलिए वे भटक रहे हैं, ठीक है। किन्तु जिन्हें मालूम पड़ गया है, यह विदित हो गया है कि आत्मा का अहित किस में है उनकी बात ही निराली है।

'क्रोध मान, माया, लोभ, रागद्वेष परिणाम। ये ही तेरे शुत्र हैं समझो आतमराम।' हमारा अहित करने वाले हमारे शुत्र अंदर छिपे हैं, उन्हें हम निकाल दें। पड़ौसी की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। बाहर कोई शत्रु है ही नहीं, बाह्य शत्रु और मित्र-ये मात्र नैमित्तिक हैं। इनमें हमें हर्ष विवाद कराने की सामर्थ्य नहीं हैं। देखो दीवार पर अगर एक गेंद आपने फेंक दी तो दीवार ने प्रत्युत्तर में आपको वह गेंद वापिस लौटा दी। वास्तव में दीवार नें नहीं फेंकी किन्तु दीवार के निमित्त से गेंद का परिणमन ऐसा होता है कि जितनी तेजी से आप फेंकोगे उतनी ही तेजी से वह टकराकर वापिस आयेगी।

जो आपने फेंका उसी का प्रतिफलन है यह। न तो दीवार के पास ऐसी कोई शक्ति है, न ही गेंद के पास है। अपने आप वह गेंद जाकर नहीं टकराती, गेंद में उस प्रकार की क्रिया हम पैदा कर देते हैं। ठीक उसी प्रकार ये रागद्वेष हमारी ही प्रतिक्रियाएं हैं, इनको हम ही करते हैं और हम ही बार-बार परेशान होते चले जाते हैं। शत्रु और मित्र हमारे अंदर हैं। किसको हटाना है और किसका पोषण करना है यह समझ में आ जाये, यही ज्ञान का फल है।

'ज्ञानस्य फलं उपेक्षा अज्ञान-हानिर्वा' उपेक्षा का अर्थ है चारित्र अर्थात् रागद्वेष की निवृत्ति और अज्ञान की हानि का अर्थ है जो आज तक अज्ञान हमने पाला है वह सारा नष्ट हो जाये, यही क्रम अच्छा है। चारित्र पहले होता है, स्वाभाविक ज्ञान केवलज्ञान उसके बाद होता है। केवलज्ञान स्वाभाविक ज्ञान है। इसकी प्राप्ति के लिए चारित्र नितान्त आवश्यक है। ऐसा कोई रास्ता नहीं है ऐसी कोई पगडंडी नहीं है जिस पर चलकर बिना चारित्र के हम केवलज्ञान-सूर्य को प्राप्त कर लें। इसलिए जो कोई भी शास्त्र-स्वाध्याय का परिणाम निकलेगा उसमें प्रथम परिणाम तो यही है कि तत्काल उस व्यक्ति को चारित्र की ओर मुड़ना होगा। अपेक्षा अर्थात् रागद्वेष और रागद्वेष का एक विलोम भाव है उपेक्षा अर्थात् राग द्वेष का अभाव और वास्तविक निर्जरा इसी को कहते हैं।

आप लोग निर्जरा कर नहीं रहे हैं, आप लोगों की निर्जरा हो रही है। यहाँ मैं करने की बात कह रहा हूँ। होने की बात तो ऐसी है कि वैसे ही समय आने पर कर्मों की निर्जरा होती है लेकिन आस्रव व बंध की धारा भी बहती रहती है इसलिए ऐसी निर्जरा से कभी भी कर्म-शत्रुओं का अभाव नहीं हो सकता। समय पर होने वाली सविपाक निर्जरा जो संसारी प्राणियों के प्रत्येक समय हो रही है, वह अरहट चक्र की भांति हो रही है। अरहट चक्र, घटी यंत्र को बोलते हैं जिसे आप लोग रहट भी बोलते हैं। इसमें कई कलश या मटकियाँ बंधी होती हैं और मटकियाँ एक के ऊपर एक इस तरह बंधी होती हैं कि आधी मटकियाँ खाली होती जाती हैं और आधी मटकियाँ भरी हुई ऊपर उठती जाती हैं। यह क्रम चलता रहता है।

एक माला मटकियों की रहती है और मालूम नहीं पड़ता कि कब खाली होती है और कब ये भरती हैं। भरती भी हैं और खाली भी होती हैं तथापि पानी आना रुकता नहीं है। सविपाक निर्जरा आपके द्वारा इसी तरह हो रही है। उदयागत कर्म निर्जीर्ण हो रहे हैं पर सत्ता में नये कर्म भी आते जा रहे हैं। बैलैन्स ज्यों का त्यों बना है। यह निर्जरा कार्यकारिणी नहीं है। एक निर्जरा ऐसी भी है जो आत्म-पुरुषार्थ से होती है वह निर्जरा 'तपसा निर्जरा च' वाली निर्जरा है।

अपने आप कर्म निर्जरा होने से मुक्ति नहीं मिलती। जब कभी भी विगत में जिन्होंने मुक्ति पायी है या आगे मुक्ति पायेंगे या अभी जो मुक्ति पाने वाली आत्माएँ हैं, सभी ने अपने आत्म-पुरुषार्थ के बल पर मुक्ति पायी है, पायेंगे और पा रहें हैं; विदेह क्षेत्र से। जब पुरूषार्थ के बल पर बंध किया है तो मुक्ति भी पुरुषार्थ से ही होगी। यदि अपने आप बंध हो गया हो तो अपने आप मुक्ति भी मिल सकती है और यह भी ध्यान रखो यदि अपने आप बंध हो रहा है तो मुक्ति संभव ही नहीं है क्योंकि बंध होता ही चला जायेगा निरन्तर।

इसलिए अपने आप यह कार्य नहीं होता, आत्मा इसका कर्त्ता है और वही भोक्ता भी है। इसलिए आचार्यों की दृष्टि में आत्मा ही अपने आप का विधाता है, ब्रह्मा है, विश्व का विधाता नहीं, वह अपने कर्मों का है। कर्म को संस्कृत में विधि भी कहते हैं। विधि कोई लिखता थोड़े ही है, हम जो कर्म करते हैं वे ही विधि के रूप में हमारे साथ चिपक जाते हैं और इस विधि का विधाता आत्मा है, हम स्वयं हैं। आत्मा ब्रह्मा भी है, और संरक्षक है इसलिए विष्णु भी है और आत्मा चाहे तो उन कर्मों का

संहार भी कर सकता है इसलिए महेश भी है। एक ही आत्मा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीनों रूप है।

आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा की जाने वाली निर्जरा ही वास्तविक निर्जरा है जो मोक्षमार्ग में कारणभूत है। इसे पाये बिना मोक्ष संभव नहीं है। आप तो कृपण बने हुए हैं कि कमाते तो जा रहे हैं। रखते भी जा रहे हैं, पर इसे खर्च नहीं करना चाहते। छोड़ना नहीं चाहते, और कदाचित् छोड़ते भी हैं तो पहले नया ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे काम नहीं चलेगा, तप करना होगा। निर्जरा की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने बतलाया है कि निर्जरा कहाँ से प्रारम्भ होती है। उन्होंने लिखा है कि जो भगवान का सच्चा उपासक होता है उसी से वह प्रारंभ होती है। अर्थात् गृहस्थ आश्रम में भी वह निर्जरा होती है।

अविपाक निर्जरा बाद में तप के माध्यम से, संयम के माध्यम से हुआ करती है। अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी अनन्तानुबंधी जन्य असंयम को समाप्त कर देता है तो उसका मार्ग भी प्रशस्त होने लग जाता है। साथ ही दर्शन-मोहनीय जो कि भुलावे में डालने वाला है उसे मिटाने के उपरान्त एक शक्ति आ जाती है। चारित्र-मोहनीय को भी धक्का लग जाता है। चारित्र-मोहनीय की शक्ति कम पड़ने लगती है। इसलिए निर्जरा तत्त्व वहीं से प्रारंभ हो जाता है। चूँकि यह निर्जरा तत्त्व पूर्ण बंध को रोक नहीं सकता इसलिए उसे मुख्य रूप से निर्जरा में नहीं गिनते किन्तु गिनती में प्रथम तो वह आ जाता है।

यहाँ बात चल रही है उस निर्जरा की जो मुख्य है। जो तप के माध्यम से हुआ करती है। निर्जरा का अर्थ है अंदर के सारे के सारे विकारों को निकाल कर बाहर फेंक देना। जब तक अंदर के विकारों को निकाल कर हम बाहर नहीं फेंकेंगे तब तक अंदर के आनंद का जो स्रोत है वह स्त्रोत नहीं फूटेगा और जब तक वह आनंद नहीं आयेगा तब तक हमारा संवेदन दु:संवेदन ही रहेगा, दुख का संवेदन रहेगा।

निर्जरा करने वाला व्यक्ति बहुत होशियार होना चाहिये। पहले दरवाजा बंद कर लें अर्थात् कर्मों के आगमन का द्वार बंद कर लें फिर अंदर-अंदर टटोलें और एक-एक करके सारे कर्मों को निकाल दें। अंदर से कर्मों को निकालने के लिए जरा सी ज्ञान-ज्योति की आवश्यकता है क्योंकि जहाँ घना अंधकार छाया हुआ होता है वहाँ थोड़ा सा भी प्रकाश पर्याप्त हो जाता है। आँख मीचकर बाहर के सारे पदार्थों को संवर के माध्यम से हटा दिया जाए, फिर अंदर ज्ञान-ज्योति को प्रकाशित कर दें तो उपादेय कौन और हेय कौन है, सब मालूम पड़ जाता है, तभी निर्जरा संभव होती है। जब तक हमारी

दृष्टि बाहर लगी रहेगी तब तक निर्जरा की ओर नहीं जायेगी। इसीलिए आचार्यों ने पहले संवर को महत्व दिया कि विकार आने का द्वार ही बंद कर दो। आने वाले सभी मार्गों का संवर।

अजमेर की बात है। एक विद्वान जो दार्शनिक था वह आया और कहा कि महाराज, आपकी चर्या सारी की सारी बहुत अच्छी लगी, श्लाघनीय है। आपकी साधना भी बहुत अच्छी है लेकिन एक बात है कि समाज के बीच आप रहते हैं और बुरा नहीं माने तो कह दूँ। हमने कहा भैया, बुरा क्या माँनूगा, जब आप कहने के लिए आये हैं तो बुरा मानने की बात ही नहीं है, मैं बहुत अच्छा मानूंगा और यदि मेरी कमी है तो मंजूर भी करूँगा। उन्होंने पुन: कहा कि बुरा नहीं मानें तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि आपको कम से कम लंगोटी तो रखना चाहिये। समाज के बीच आप रहते हैं, उठते-बैठते आहार-विहार-निहार सब करते हैं और आप तो निर्विकार हैं। लेकिन हम लोग रागी हैं, इसलिए लंगोटी रख लें तो बहुत अच्छा।

यह चर्चा उस समय की है जब भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव मनाया जाने वाला था। कई चित्रों के साथ भगवान महावीर स्वामी का एक चित्र भी रखा था। उस किताब को जब मैंने देखा तो पाया कि हमारे भगवान महावीर तो इसमें नहीं है। लोगों ने कहा कि इसमें हैं, देखिये अंतिम नम्बर इन्हीं का है। मैंने कहा कि ये तो आप लोगों जैसे दीख रहे हैं। लोग कहने लगे-नहीं ये तो बिल्कुल दिगम्बर हैं। मैंने कहा मुख तो सभी का दिगम्बर है पर इतने से कोई दिगम्बर नहीं होता। आपने वस्त्र भले ही नहीं रखे पर वस्त्र, आवरण भी कई प्रकार के हैं। भगवान के सामने चित्र में वह जो लकड़ी लाई गयी है। वृक्ष दिखाया गया है वह भी वस्त्र का काम कर रही है। इसे हटायेंगे तभी हमारे महावीर भगवान से साक्षात्कार होगा।

उस समय यह बात चली थी कि एक लंगोटी तो आप पहन ही लो। हमने कहा, भइया ऐसा है कि महावीर भगवान का बाना हमने धारण कर रखा है और इसके माध्यम से महावीर भगवान कम से कम ढाई हजार वर्ष पहले कैसे थे, यह भी ज्ञात होना चाहिये। तो वे कहने लगे महाराज! आप तो निर्विकार हैं और सभी की दृष्टि से कहा है। मैंने कहा अच्छा। आप दूसरों की रक्षा के लिए काम कर रहे हैं, तो ऐसा करें कि लंगोटी में तो ज्यादा कपड़ा लगेगा, और महावीर भगवान् का यह सिद्धान्त है कि जितना कम परिग्रह हो उतना अच्छा है। आप एक छोटी सी पट्टी रख लो और जिस समय कोई दिगम्बर साधु सामने आ जाये तो धीरे से आँख पर ढक लें। जो

विकारी बनता है उसे स्वयं अपनी आँख पर पट्टी लेनी चाहिये।

महावीर भगवान निर्जरा तत्व को अपनाने वाले थे। संवर को अपनाने वाले थे। उन्होंने कहा कि जिस मार्ग से कर्म आ रहे हैं उसे ही बंद कर दिया जाए, बाहरी द्रव्य अपने आप ही बंद हो जायेंगे। अगर अपना दरवाजा बंद कर लो तो सबका आना रुक जाता है। आत्मा के छह दरवाजे हैं, पाँच इन्द्रिय संबंधी झरोखे हैं और छठा दरवाजा है मन। आत्मा का उपयोग इन छहों के माध्यम से बाहरी हेय तत्व को उपादेय की दृष्टि से अपनाता है। बाह्य तत्त्व आते नहीं है, स्थान से स्थानान्तर नहीं होते किन्तु प्रमेयत्व गुण के माध्यम से आत्मा पर अपना प्रभाव डालते हैं। यदि इंद्रिय और मन का द्वार बंद है तो बाहर का रिफ्लेक्शन अंदर नहीं आयेगा। इसी को कहते हैं संवर तत्व। इससे आत्मा के अंदर की शक्ति अंदर रह जाती है और निर्जरा के लिए बल मिल जाता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि के होने वाली निर्जरा एकान्त रूपसे अविपाकी निर्जरा नहीं है क्योंकि वह बंध तत्त्व के साथ चल रही है। उस निर्जरा को गज स्नानवत् कहा है। जैसे स्नान के समय हाथी करता है कि स्नान तो कर लेता है किन्तु इधर स्नान किया और उधर ढेर सारी धूल अपने सिर पर उड़ेल ली। भइया! निर्जरा होना अलग बात है और निर्जरा करना बात अलग है। अविरत सम्यग्दृष्टि के निर्जरा हो रही है, लेकिन तप के द्वारा जो निर्जरा की जाती है वह तो संयमी के ही होती है। कई लोगों का ऐसा सोचना है कि जो सम्यग्दृष्टि बन ही गया है तो अब इसके उपरान्त पूजन करना, प्रक्षाल करना, दान आदि देना, इससे और ज्यादा निर्जरा तो होने वाली नहीं। शंका बहुत उपयुक्त है लेकिन आप एक ही दृष्टि से देख रहे हैं। पहले मैंने एक बार कहा था कि आप जैनी बन के काम करो। अकेले जैन मत लिखा करो। अंग्रेजी में JAIN शब्द में एक ही आई है अर्थात् आप एक ही दृष्टि से देख रहे हैं। जैनी लिख दो तो दो आई हो जायेंगी JAINI तब ठीक रहेगा, दो आँख हो जायेंगी। दोनों नयों से देखना ही समीचीन दृष्टि है।

श्रावक के लिए षट् आवश्यक कहे गये हैं। उनमें देव-पूजा, गुरूभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन सभी को प्रतिदिन करना आवश्यक है। हम तो सोचते हैं-दिने-दिने के स्थान पर पदे-पदे या क्षणे क्षणे होना चाहिये। ये छहों कार्य प्रतिपल एक के बाद एक करते रहना चाहिये। इसमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। आवश्यक जिस समय में जो है वह ही करना। 'अवश्यमेव

भव: आवश्यक:' ऐसा कहा गया है। हमारे आचार्यों ने जब ग्रंथ लिखे तो वे यह जानते थे कि जो श्रावक हैं, गृहस्थ हैं, उनके लिए भी कोई आवश्यक बनाने होंगे ताकि विषय-कषाय से बचा जा सके। जो मन में आया वही लिख दिया हो, तो ऐसा नहीं है, पूर्वापर विचार करके, तर्क की कसौटी पर तौलकर और अनुभव से उन्होंने लिखा है।

पूजा के समय सम्यग्दृष्टि को बंध तो होता है क्योंकि जब वह पूजा करता है तो आरंभ तो होगा ही इसमें कोई संदेह नहीं है लेकिन आचार्यों ने कहा है कि बंध ही अकेला होता हो ऐसा नहीं है। उन्होंने कहा है कि ये आवश्यक गृहस्थ के लिए तप के समान कार्य करते हैं। जिस समय अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ पचेन्द्रिय के विषयों में लीन हो जाता है अर्थात् विषय सामग्री का सेवन करता है उस समय उसके अनन्तानुबंधी संबंधी और मिथ्यात्व संबंधी कर्म प्रकृतियों का आस्रव बंध तो नहीं होता लेकिन अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान आदि के द्वारा होने वाला बंध तो अवश्य होता है और उस समय कर्म प्रकृतियों में उच्च स्थिति अनुभाग के साथ बंध होता है। उस समय उसके निर्जरा नहीं हुई किन्तु बंध ही हुआ।

लेकिन पूजा के समय अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया लोभ की हीन स्थिति के साथ बंध करेगा और अनुभाग भी मंद होगा। उस समय पाप प्रकृतियों के अनुभाग और स्थिति में कमी आयेगी, उनमें द्विस्थानीय बंध ही हुआ करता है। जिस समय वह पूजन करेगा उसी समय में वह अप्रत्याख्यान को समाप्त भी कर सकता है क्योंकि उस समय भूमिका इस प्रकार की होती है उसके देशव्रत लेने की भावना जागृत हो सकती है। महाव्रत धारण करने की भावना हो सकती है। क्योंकि वीतराग मुद्रा सामने है, उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, और अंदर का सम्यग्दर्शन बोलता है कि कमजोरी कहाँ पर है? क्यों वस्त्रों में अटक रहे हो? इस प्रकार का विचार आते ही संभव है वह जीवन में वीतराग मुद्रा को धारण कर ले। इसलिए भगवान के सामने जाकर उनसे भेंट तो कर लेना चाहिये ताकि उनके अनुरूप बनने के विचार जागृत हो सकें, विषय कसायों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो सके। जो कि निर्जरा का कारण है।

पूजन करते समय अप्रत्याख्यान की निर्जरा तो होती ही है साथ ही जिस समय वह सम्यग्दृष्टि भगवान के सामने पूजन करने लग जाता है और प्रभु पतित पावन बोलने लग जाता है तो उस समय अनन्तानुबंधी की उदीरणा होकर अकाल में ही वह खिर जाती है। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया

लोभ की जो चौकड़ी मिथ्यात्व के साथ संबंध रखने वाली है, वह सारी की सारी अप्रत्याख्यान के रूप में आकर फल देकर चली जाती है किन्तु सम्यक्त्व बाधित नहीं होता। जिसके अनन्तानुबंधी सत्ता में है उसे सत्ता में से तो निकालना होगा क्योंकि उदय में आ जायेगी तो सम्यग्दर्शन का घात हो जायेगा। यह पूजन इत्यादि षट् आवश्यक सारे के सारे अंदर के कर्मों को निकालने के उपक्रम हैं।

इसलिए सम्यग्दृष्टि भगवान् के सामने जाकर अगर एक घंटे कम से कम पूजन करता है तो उतने समय के लिए अनन्तानुबंधी की निर्जरा होती है। जिस व्यक्ति को निर्जरा तत्व के प्रति बहुमान है वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि होकर घर में नहीं बैठेगा और पूजन की बेला को नहीं टालेगा और यदि टालता है तो वह सम्यग्दर्शन का पोषक नहीं है, यही कहना चाहिये। सम्यग्दृष्टि श्रावक अष्ट मंगल द्रव्य लेकर पूजा करने जाता है और मुनियों द्वारा होने वाली पूजन में द्रव्य नहीं रहती, भावों से ही पूजन होती है।

यदि आप श्रावक चाहें कि द्रव्य न लगे, भाव पूजन हो जाये और निर्जरा भी हो जाये तो संभव नहीं है। आप यदि द्रव्य नहीं लगाना चाहते तो इसका अर्थ है कि आपको द्रव्य के प्रति मोह है और मोह है तो बंध होगा, निर्जरा नहीं होगी। भगवान के सामने पूजन करने का अर्थ यही है कि विषय सामग्री का विमोचन यानी निर्जरा तत्त्व का आह्वान। विषय सामग्री चढ़ाई जाती है, भगवान को दी नहीं जाती। हमारे भगवान लेते नहीं हैं पर आपके पास जितना है उसे छुड़वा देते हैं। तीर्थस्थल पर आप बैठे हैं तो यहाँ अपने आप छोड़ने के भाव जागृत हो जाते हैं। घर में रहकर यह भाव जागृत नहीं होते।

घर में जब खाना खाते हैं तो कहते हैं, पाटा बिछा दो, पंखा चला दो, बिजली का नहीं तो हाथ से ही सही, थाली रक्खो, अच्छी चमकती हुई, गिलास रखो, लौटा रखो पानी भर कर सारी सुख-सुविधाएँ चाहिये लेकिन यहाँ क्षेत्र पर आप लोग खाना खाते हैं तो यहाँ कोई पाटा नहीं है, थाली नहीं है, यूँ ही एक तरफ बैठे-बैठे कैसे भी करके खा लेते हैं पांच मिनट में। यही तो त्याग है। तीर्थ पर भगवान के सामने सभी व्यक्ति प्रायः व्रती बन जाते हैं, त्याग की सीख ले लेते हैं। यहाँ तो प्रत्येक समय त्याग तपस्या की बात है, निर्जरा की बात है। यहाँ तो धर्मध्यान को छोड़कर निरन्तर मोक्षमार्ग की बात चल रही है। संसारी और गृहस्थ चौबीस घंटे राग-द्वेष और विषय-कषाय में, धर्म ध्यान को छोड़कर लगे हुए हैं। इन षट्-आवश्यकों के माध्यम से वीतराग प्रतिमा के सामने पूजन का

सौभाग्य मिल जाता है और ऐसी निर्जरा होती है, अविपाक निर्जरा, जो तप के माध्यम से होती है। इसलिए पूजन-धर्म आवश्यक है।

जो साधक हैं उन्हें पूजन अपने अनुकूल करना चाहिये। आपको/श्रावक को अष्ट मंगल द्रव्य से पूजन का विधान है और हम लोगों को/मुनिजनों को अष्ट मंगल द्रव्य के अभाव में भावों की निर्मलता में कोई कमी नहीं रखना चाहिये। मुनि लोग जब भी भगवान की पूजा करते हैं तो उस समय आप से भी असंख्यात गुणी कर्म की निर्जरा कर लेते हैं। केवल आत्म-तत्त्व के माध्यम से ही निर्जरा होती है, ऐसा एकान्त नहीं है। सामान्य रूप से होने वाली निर्जरा तो मिथ्यात्व के उदय में भी होती है। मिथ्यात्व का उदय बाद में समाप्त होता है। अनन्तानुबंधी पहले समाप्त हो जाती है। निर्जरा तो वहाँ भी होती है लेकिन यहाँ इस प्रकार की निर्जरा की बात हम नहीं कर रहे हैं। सजग होकर ज्ञान के साथ जो निर्जरा की जाती है, और पूजन आदि षट् आवश्यकों के माध्यम से वह जितनी-जितनी बढ़ती है उतने-उतने अंशों में वह निराकुल बनता चला जाता है। यही षट्-आवश्यक श्रावक के लिए निराकुलता में कारण बनते हैं। सम्यग्दृष्टि इनके माध्यम से विशेष निर्जरा करता है और आगे बढ़ता जाता है।

गृहस्थ होकर भी जितना अधिक आपका धार्मिक क्षेत्र में समय खर्च होगा, उतना ही आपकी सत्ता में जो अनन्तानुबंधी है वह संक्रमित होकर बिना फल दिये ही चली जायेगी। यदि आप सजग हो करके देवगुरु शास्त्र की पूजन, उनकी उपासना, आराधना, उनका चिन्तवन करते हैं तो उस समय कर्म खिरते चले जाते हैं। मिथ्यात्व भी जो सत्ता में है वह उदयावली में आकर सम्यक्त्व प्रकृति के रूप में फल देकर चला जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व प्रकृति की निर्जरा हो जाती है और आपके सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में सम्यग्दर्शन ज्यों का त्यों बना रहता है।

जिस प्रकार आप लोग आठ घंटे की ड्यूटी दे देते हैं उस समय आपको जो वेतन बंधा हुआ है, वह मिल जाता है विश्वस्त होकर काम करो और थोड़ा प्रमाद भी हो जाये तो भी वेतन पूरा मिलता है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि भगवान के सामने जाकर सो भी जायें तो भी वेतन मिलता रहता है। यदि ओवर ड्यूटी कर ले तो फिर कहना ही क्या? एक व्यक्ति पसीना-पसीना हो रहा था। मैंने पूछा कि भइया ऐसा इतना काम क्यों करते हो, समय पर किया करो। उसने कहा-क्या करें महाराज। घर की बात, बेटी के दहेज के लिए धन तो चाहिये-इसलिए आगे दो-तीन साल के अंदर ओवर ड्यूटी करके कमा रहा हूँ। अब सोचो,

संसार के कार्यों में इस प्रकार कमा सकते हैं तो तप के माध्यम से, षट् आवश्यकों के माध्यम से मोक्षमार्ग में निर्जरा को भी बढ़ा सकते हैं।

समय से पहले अकाल में ही इस प्रकार आवश्यकों के माध्यम से निर्जरा हो सकती है और नये बंध से बचा जा सकता है अतः पूजन आदि करना परम आवश्यक है। पूजन के माध्यम से मात्र बंध ही होता हो ऐसा नहीं है क्योंकि बंध की प्रक्रिया न तो पूजन के समय पूर्णतः रुकी है और न ही विषय भोगों के समय रुकी है बल्कि जिस समय पूजन करते हैं उस समय पाप की निर्जरा हो जाती है, उसका बंध रुक जाता है और शुभ-बंध प्रारंभ हो जाता है। पूजन को केवल बंध का कारण कहना-इस तत्त्व को नहीं समझना है। साथ ही साथ यह पाप का समर्थन करना है क्योंकि वह व्यक्ति पाप से मुक्त होकर मुनि तो बना नहीं है।

अष्ट द्रव्य से पूजन करना आस्रव का कारण है, ऐसा उपदेश उन व्यक्तियों के सामने सुनाने योग्य है जो मुनि बनने के लिए तैयार हैं। यदि गृहस्थ होकर द्रव्य पूजन नहीं करना चाहते तो गृहस्थ से ऊपर उठ जाओ, फिर भाव पूजन करो, फिर मंदिर जाने की भी आवश्यकता नहीं है लेकिन मंदिर जाने की आवश्यकता नहीं है तो घर जाने की भी आवश्यकता नहीं है, यह भी बात है, ध्यान रखो। आप चाहें कि मंदिर जाना छूट जाये, घर में बैठे रहें और निर्जरा भी हो जाये तो संभव नहीं है। निर्जरा नहीं मिलेगी, वहाँ तो जरा ही मिलेगी, बुढ़ापा मिलेगा। अतः सभी विवक्षाओं को देखने, सोचने विचारने की बड़ी आवश्यकता है।

नन्हें-नन्हें बच्चों के सामने यदि पूजा को बंध का कारण बता देंगे तो कभी उनको और न आपको समझ में आयेगा कि वास्तव में आस्रव और बंध क्या है और निर्जरा तत्त्व क्या है, मोक्ष क्या और जीव तत्व क्या है। वह श्रेष्ठ डॉक्टर है जो रोगी को दवाई देता है, निदान ठीक-ठीक करता है, साथ ही अनुपान का भी ध्यान रखता है। एक माह का बच्चा है और बीमार हो जाता है तो डॉक्टर औषध देगा पर उसे ध्यान रखना होगा कि कौनसी देना, कितनी मात्रा में देना और किस अनुपान के साथ देना है। यदि पहलवान की तरह मात्रा और अनुपान लेंगे तो प्राण संकट में पड़ जायेंगे।

इसी प्रकार जो अभी पूजन ही नहीं कर रहा है, धर्म-ध्यान की ओर जिसकी दृष्टि नहीं है उसे, पूजन बंध का कारण है, यह बता दिया जाए तो वह मोक्षमार्ग पर कभी आरूढ़ नहीं हो पायेगा। मोक्षमार्ग से विचलित होकर उन्मार्ग पर बढ़ जायेगा। निचली बात यदि छुड़ाना है तो धीरे-धीरे उस व्यक्ति

को ऊपर की बात उपादेय के रूप में बता दो। यदि द्रव्य पूजन से बचाना चाहो तो सभी प्रकार के आरम्भ परिग्रह से ऊपर उठ जाओ, निरारम्भ बन जाओ, निस्परिग्रही हो जाओ, ग्यारह प्रतिमाएं ले लो।

संसार के तो अनेक पाप कार्य करना और भगवान की पूजन को बंध का कारण बताना अथवा भोग को निर्जरा का कारण बताना, यह सब जैन सिद्धान्त का अपलाप है। विवक्षा समझनी चाहिये। यह तो मोक्षमार्ग को अप्रशस्त करना है। जो ऊपर उठने वाले हैं उन्हें नीचे गिराना है। सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण है लेकिन ध्यान रखना भोग कभी निर्जरा का कारण नहीं होता। यदि भोग निर्जरा का कारण है तो योग (ध्यान) बंध का कारण होगा। सोचना चाहिये ऐसा कहने वालों को। कौन से शब्दों का अर्थ, कहाँ क्या लिखा है, किस व्यक्ति के लिए लिखा गया है। कुछ भी याद नहीं। आगम का जरा भी भय नहीं। कोई विवेक नहीं और धर्मोपदेश चल रहा है। यह ठीक नहीं है भइया।

सम्यग्दृष्टि का भोग भी निर्जरा का कारण है- ऐसा कथन आया है, सभी जानते हैं, किन्तु किस व्यक्ति के लिए आया है यह भी देखना चाहिये। जो व्यक्ति बिल्कुल निर्विकार वीतराग सम्यग्दृष्टि बन चुका है और दृष्टि जिसकी तत्त्व तक पहुँच गयी है, इसके सामने वह भोग सामग्री, भोग सामग्री न होकर जड़ पदार्थ मात्र रह गयी है। उस व्यक्ति के लिए कहा है कि तू कहीं भी चला, जाये, तेरे लिए संसार निर्जरा का कारण बन जायेगा।

भगवान की मूर्ति, वीतराग प्रभु की मूर्ति निर्जरा के लिए कारण है, संवर के लिए कारण है, लेकिन सिनेमाघर में जाकर कोई चित्र देखे तो क्या वहाँ निर्जरा होगी? संभव नहीं है आपको। आप स्वयं को भूल जायेंगे। समाधि के स्थान पर समाप्ति हो जायेगी। व्यसनों में पड़कर भगवान को भूल जाना, साथ ही अपने आप को भूल जाना अलग है और निर्विकल्प ध्यान में लीन होकर अपने को भूल जाना अलग है, दोनों में बड़ा अन्तर है। एक संसार मार्ग है और एक मुक्ति का मार्ग है। महाव्रती होकर यदि निर्विकार दृष्टि से वीतराग सम्यग्दृष्टि भोग सामग्री को देखता है तो भी उसको निर्जरा ही होगी।

पात्र को देखकर ही कथन करना चाहिये। भोग निर्जरा का कारण सामान्य व्यक्तियों के लिए नहीं है। अभी वह दृष्टि प्राप्त नहीं है जो हर पदार्थ को ज्ञेय बनाये। अभी जब तक दृष्टि इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से युक्त है, हेय उपादेय को नहीं पहचानती तब तक वह स्खलित हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिए ग्रंथ का अध्ययन, मनन-चिन्तन तो ठीक ही है लेकिन उसके रहस्य तक पहुँचे बिना कुछ भी कह देना ठीक नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ की कीमत अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने क्षेत्र में हुआ करती है। जौहरी की दुकान पर आप चले जायेंगे तो वह आपको बिठा लेगा, आपका मान-सम्मान भी करेगा लेकिन आपको अपने हीरे-जवाहरात जल्दी-जल्दी उतावलेपन में नहीं दिखायेगा, न ही देगा। वह ग्राहक को परखता है, फिर ग्राहक के सामने जवाहरात की जो कीमत है, उसे बताता है। बहुत कीमती है ऐसा कहकर बड़ी सावधानी से एक-एक ट्रेजरी खोलता है तब कहीं जाकर एक छोटी सी संदूक और उस संदूक में भी एक छोटी सी डिबिया और उस डिबिया में भी मखमल और मखमल में भी एक पुड़िया। इस प्रकार वह हीरा तो बहुत अंदर है और उसे भी ऐसे ही हाथ में लेकर नहीं दिखाता, दूर से ही दिखा देता है।

इसी प्रकार ग्रंथराज समयसार में इस निर्जरा तत्त्व की कीमत है। ग्रंथराज समयसार आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने सभी के हाथ में नहीं दिया। वे ही हाथ लगा सकते हैं जो मुनि हैं या मुनि बनना चाहते हैं। वे ही इसकी सही कीमत कर सकते हैं, वे ही इसका चिन्तन, मनन और पाचन कर सकते हैं। यह कोई सामान्य ग्रंथ थोड़े ही हैं। जीवन समर्पित किया जाता है। उस समय यह निर्जरा तत्त्व प्राप्त होता है। विषय भोगों को ठुकरा दिया जाता है तब यह हीरा गले में शोभा पाता है, ऐसे थोड़े ही है भइया, बड़ी कीमती चीज है, इस कीमती चीज को आप किसी के हाथ में यूँ ही दे दो तो उसका मूल्यांकन वह नहीं कर पायेगा। जो भूखा है, प्यासा है वह कहेगा यह कोई चमकीली चीज है, इसको ले लो और मुझे तो मुट्ठी भर चना दे दो और आज यही हो रहा है।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि तुम्हारी दृष्टि में यदि अभी भोग आ रहे हैं तो तुमने पहचाना नहीं है निर्जरा तत्त्व को। एकमात्र अपने आत्मा में रम जा तू वही निर्जरा तत्त्व है। तेरी ज्ञानधारा यदि ज्ञेय तत्त्व में अटकती है तो निर्जरा तत्त्व टूट जाएगा, वह हार बिखर जायेगा। इस निर्जरा तत्त्व के उपरान्त और कोई पुरुषार्थ शेष नहीं रह जाता है। मोक्ष तत्त्व तो निर्जरा का फल है। मोक्ष तो मंजिल है, वह मार्ग नहीं है। मार्ग यदि कोई है तो वह संवर और निर्जरा हैं। मार्ग में यदि स्खलन होता है तो मोक्ष रूपी मंजिल नहीं मिलेगी। हमें मोह से बचकर मोक्ष के प्रति प्रयत्नशील होना चाहिये। निर्जरा तत्त्व को अपनाना चाहिये।

□□

मोक्ष तत्त्व

कल चतुर्दशी थी और प्रतिक्रमण का दिन था। वह प्रतिक्रमण आवश्यक उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सामायिक आवश्यक है। प्रत्येक आवश्यक में कुछ अलग विषय रखे गये हैं। प्रतिक्रमण आवश्यक में बात बहुत गहरी है। संसारी प्राणी आदिकाल से आक्रमण करने की आदत को लिए हुए जीवन जी रहा है। परंतु मोक्षपथ का पथिक आक्रमण को हेय समझकर प्रतिक्रमण को, जीवन जीने का एक सफल उपाय मानता है।

आक्रमण का अर्थ है बाहर की ओर यात्रा और प्रतिक्रमण का अर्थ है अंदर की ओर यात्रा, अपने आप की उपलब्धि। इस तरह आक्रमण संसार है तो प्रतिक्रमण मुक्ति है। 'कृत दोष-निराकरणं प्रतिक्रमणं' किये हुए दोषों का मन-वचन काय से, कृत-कारित-अनुमोदना से विमोचन करना, यह प्रतिक्रमण का शब्दार्थ है। इस ओर चलता है वही पथिक, जो मुक्ति की वास्तविक इच्छा रखता है। अपने आत्मा की उपलब्धि ही मुक्ति है और प्रतिक्रमण का अर्थ भी है, अपने आप में मुक्ति। दोषों से मुक्ति। संसारी प्राणी दोष करता है किन्तु दोषी नहीं है यह सिद्ध करने के लिए निरन्तर आक्रमण करता जाता है दूसरों के ऊपर। एक असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए हजार असत्यों का आलम्बन ले लेता है यही उसे मुक्ति में बाधक बन जाता है।

मुक्ति का अर्थ तो यह है कि दोषों से अपनी आत्मा को मुक्त बनाना। मुञ्च विमोचने त्यागे वा। 'मुञ्च' धातु से बना है यह मोक्ष शब्द। मुञ्च धातु विमोचन के अर्थ में आयी है। कोई ग्रंथ लिखे, उस ग्रंथ का आप विमोचन कर लेते हैं या किसी में करवा लेते हैं परंतु अपने दोषों का विमोचन करने का कोई प्रयास नहीं करता। विमोचन वही करता है जो मुक्ति चाहता है और यह 'मुञ्च' शब्द छोड़ने के अर्थ में आया है, छूटने के अर्थ में नहीं, छूटता है तो धर्म छूट जाता है और छोड़ा जाता है पाप। अनादिकाल से धर्म छूटा है, अब छोड़ना होगा पाप।

प्रत्येक संसारी प्राणी अपने दोषों को मंजूर नहीं करता और न ही उन दोषों का निवारण करने का प्रयास करता है। किन्तु मोक्षमार्ग का पथिक वही

है इस संसार में जो अपने दोषों को छोड़ने के लिए और स्वयं अपने हाथों दंड लेने के लिए हर क्षण तैयार है। संसार में मुनि ही ऐसा है जो अपने आप प्रतिक्रमण करता है। मन से, वचन से, और काय से जो कोई भी ज्ञात-अज्ञात में प्रमाद के वशीभूत होकर दोष हो गये हों या दोष-मुक्त भावना हो गयी हो तो उसके लिए दंड के रूप में स्वीकार करता है वह मुनि। ऐसा कहें कि कल पनिशमेंट डे था, दंड लेने का दिन था, प्रतिक्रमण का दिवस था।

संसारी प्राणी प्रायः दूसरे को दंड देना चाहता है पर अपने आप दंडित नहीं होना चाहता। मुनिराज संसारी प्राणी होते हुए भी दूसरे को दंड देना नहीं चाहते बल्कि खुद प्रत्येक प्राणी के प्रति चाहे वह सुनें या ना सुनें, अपनी पुकार पहुँचा देते हैं। एक इन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी जीव हैं उनके प्रति क्षमा धारण करता हूँ, मेरे द्वारा मन से, वचन से, काय से, कृत से कारित से और अनुमोदना से किसी भी प्रकार से, दूसरे के प्रति दुष्परिणाम हो गये हों तो मैं उसके लिए क्षमा चाहता हूँ और क्षमा करता हूँ।' ये भाव प्रतिक्रमण के भाव हैं।

आज हम सब आक्रामक बने हैं और आक्रामक जो भी है वह क्रोधी होता है, मानी होता है, मायावी होता है, लोभी होता है, रागी और द्वेषी भी होता है। लेकिन जो प्रतिक्रमण करता है वह इससे विलोम होता है। वह रागी-द्वेषी नहीं होता, वह तो वीतरागी होता है। वह मान के ऊपर भी मान करता है। मान का भी अपमान करने वाला अर्थात् मान को अपने से निकाल देने वाला यदि कोई है तो वह वीतरागी मुनि है। लोभ को भी प्रलोभन देने वाला यदि कोई है तो वह मुनि है। क्रोध को भी गुस्सा दिलाने वाला यदि है तो वह मुनि है। अर्थात् यदि क्रोध उदय में आ जाये तो भी मुनि खुद शान्त बना रहता है और क्रोध शान्त हो जाता है। क्रोध हार मान लेता है।

वास्तविक क्रोधी तो मुनि हैं जो क्रोध के ऊपर भी क्रोध करते हैं, वास्तविक मानी भी मुनि हैं जो मान का अपमान कर लेते हैं और उसे दूर भगा देते हैं। वास्तविक मायावी वही है जो माया को अपना प्रभाव नहीं दिखाने देता। लोभ को प्रलोभन में डालकर उन पर विजय पा लेते हैं। इस प्रकार वह प्रतिक्रमण करने वाला यदि देखा जाये तो बड़ा काम करता है। प्रतिक्रमण चुपचाप होता है लेकिन कषायों को शान्त करने की भावना अहर्निश चलती रहती है। अब मुक्ति के बारे में कहने की आवश्यकता ही क्या है?

आप में से कौन-कौन प्रतिक्रमण के लिए तैयार होते हैं? आत्मा को निर्दोष बनाने की इच्छा किसकी है? जितना-जितना आत्मा को निर्दोष बना लेंगे उतनी-उतनी ही तो है मुक्ति।

माँ परोस रही थी एक थाली में विभिन्न-विभिन्न व्यंजन रखे और लाड़ला लड़का बैठा-बैठा खा रहा था। खाते-खाते जब वह बीच में रुक जाता है तो माँ पूछती है कि बेटा! क्या बात हो गयी? घी और चाहिये क्या? एक बात पूछना चाहता हूँ माँ! वह लड़का कहता है। आप रसोई बनाना छोड़ दें। मेरे अनुमान से आपकी नेत्र ज्योति कुछ कमजोर हो गयी है। बात असल में यह है कि खाते-खाते अचानक कुछ कट्ट से टूटने की आवाज आ गयी है, लगता है कंकर है भोजन में। सारा का सारा जब बाहर निकालता है भोजन, वह लड़का, तो कंकर कहीं नहीं दिखता। माँ समझ जाती है कि बात क्या है! वह कह देती है कि बेटा यह कंकर नहीं है यह मूँग ही ऐसी है। उसका नाम है टर्रा मूँग। इसकी पहचान वैसे नहीं होती। खाते समय ही होती है। यह दिखता मूंग के समान हरा-हरा है लेकिन यह सीझता (पकता) नहीं है। इसे कितना भी पकाओ यह कभी नहीं पकता, इसी प्रकार ऐसे भी जीव होते हैं जो खुद कभी नहीं सीझते अर्थात् मुक्ति को प्राप्त नहीं हो पाते और कभी-कभी दूसरे की मुक्ति में बाधक हो जाते हैं। बंधुओ! हमारा जीवन मुक्ति मंजिल की ओर बढ़े ऐसा प्रयास करना चाहिये। साथ ही हमारा जीवन दूसरे के लिए, जो मुक्ति पाने के लिए आगे बढ़ रहे हैं, उनके लिए साधक तो बनें ही, कम से कम, बाधक नहीं।

यह संसार अनादि अनंत है। इसमें भटकते-भटकते हम आ रहे हैं। तात्कालिक पर्याय के प्रति हमारी जो आसक्ति है उसे छोड़ना होगा और त्रैकालिक जो है उस पर्याय को धारण करने वाला द्रव्य अर्थात् मैं स्वयं आत्मा कौन हूँ, इसके बारे में चिंतन करना चाहिये। हमारे आचार्यों ने पर्याय को क्षणिक कहा है और उस पर्याय की क्षणभंगुरता और निस्सारता के बारे में उल्लेख किया है। यद्यपि सिद्ध-पर्याय शुद्ध-पर्याय हेय नहीं है किन्तु संसारी प्राणी को मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए पर्याय की हेयता बताना अति आवश्यक है। इसके बिना उसकी दृष्टि पर्याय से हटकर त्रैकालिक जो द्रव्य है उस ओर नहीं जा पाती और जब तक दृष्टि अजर-अमर द्रव्य की ओर नहीं जायेगी, तब तक ध्यान रखियेगा, संसार में रचना-पचना छूटेगा नहीं।

एक बार महाराज जी, (आचार्य गुरुवर ज्ञानसागर जी महाराज) के सामने चर्चा की थी कि महाराज! जिसने यहां मुनि दीक्षा धारण की और वर्षों तक तप किया और सम्यग्दर्शन के साथ स्वर्ग में सम्यग्दृष्टि देव बन गये तो पुनः वापिस आकर यहाँ संबोधन वगैरह क्यों नहीं देते? तो महाराज जी बोले सुनो-संसारी प्राणी की स्थिति ऐसी है कि क्षेत्र का प्रभाव उसके ऊपर ऐसा पड़ जाता है कि अतीत के अच्छे कार्य को वह भूल जाता है और जिस पर्याय में पहुँचता है वहीं रच-पच जाता है। वहीं के भोगों में व्यस्त हो जाता है। अन्य गतियों की यही स्थिति है किन्तु मनुष्य गति एक ऐसी गति है जिसमें व्यस्तता से बचा जा सकता है। विवेक जागृत किया जा सकता है।

विवेक छोटे से बच्चे में भी जागृत हो सकता है। तभी तो उस बच्चे ने अपनी माँ से पूछ लिया था कि यह मूंग ऐसा क्यों है? क्या कुछ ऐसे ही मूँग बोये जाते हैं, जो टर्रा होते हैं? तब माँ कहती है कि नहीं बेटे बोये तो अच्छे ही जाते हैं। एक बीज के माध्यम से एक बाल आ जाती है जिसमें कई मूँग होते हैं जिनमें एकाध टर्रा मूँग भी हो सकता है। अनेक मूँग के साथ एक मूँग ऐसा भी हो जाता है जो सीझता नहीं है, उस पर द्रव्य, क्षेत्र, काल का प्रभाव नहीं पड़ता उसका स्वभाव ही ऐसा है। कैसा विचित्र स्वभाव पड़ गया है उसका जो न आज तक सीझा है और न आगे कभी सीझेगा। हम सब उसमें से तो नहीं हैं यह विश्वास है, क्योंकि हमारा हृदय इतना कठोर नहीं है। हम सीझ सकते हैं। अपना विवेक जागृत कर सकते हैं।

एक बात और भी है कि टर्रा नहीं होकर भी कुछ ऐसे मूँग हैं जो अग्नि का संयोग नहीं पाते, जल का संयोग नहीं पाते इसलिए टर्रा मूँग के समान ही रह जाते हैं। वह भी नहीं सीझ पाते, उनको दूरानुदूर भव्य की उपमा की गयी है जो टर्रा मूँग है वे तो अभव्य के समान हैं। जो मूँग बोरी में रखे हैं और वैसे ही अनंत काल तक रखे रहेंगे वो भी नहीं सीझेंगे, वे दूरानुदूर भव्य हैं। इसका अर्थ यह है कि घर में रहते-रहते मुक्ति नहीं मिलेगी। आप चाहो कि घर भी न छूटे और वह मुक्ति भी मिल जाये, हम सीझ जायें तो यह 'भूतो न भविष्यति' वाली बात है। योग्यता होने के बाद भी उस योग्यता का परिस्फुटन अग्नि आदि के संयोग के बिना होने वाला नहीं है। योग्यता है लेकिन व्यक्त नहीं होगी। संयोग मिलाना होगा, पुरुषार्थ करना होगा।

अभव्य से दूरानुदूर-भव्य ज्यादा निकट है और दूरानुदूर भव्य से आसन्न-भव्य ज्यादा निकट है उस मुक्ति के; लेकिन भव्य होकर भी यदि अभी तक हमारा अपना नम्बर नहीं आया, इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि आसन्न-भव्य तो हम अपने आप को कह नहीं सकेंगे। भव्य होकर भी हमने संयोग नहीं मिलाया अभी तक। दूरानुदूर भव्य के लिए योग नहीं मिलेगा। सच्चे देव-गुरु शास्त्र का ऐसा नहीं है, वह मिलायेगा ही नहीं। अर्थात् तदनुरूप उसकी वृत्ति जल्दी नहीं होगी। देखो, परिणामों की विचित्रता कैसी है कि सीझने की योग्यता होते हुए भी नहीं सीझता। इसलिए जिस समय आत्म-तत्व के प्रति रुचि जागृत हो, 'शुभस्य शीघ्रं' उसी समय उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना प्रारम्भ कर देना चाहिये।

पूज्यपाद स्वामी ने भव्य के बारे में कहा है 'स्वहितम् उपलिप्सु' अपने हित की इच्छा रखने वाला 'प्रत्यासन्ननिष्ठ कश्चिद् भव्यः'- कोई निकट भव्य था। जिस प्रकार भूखा व्यक्ति 'अन्न' ऐसा सुनते ही मुख खोल लेता है उसी प्रकार निकट भव्य की स्थिति होती है, मैं अपने अनुभव की बात बताता हूँ उसी से आप कम्पेयर कर लेना, बाद में। जब हाई स्कूल जाते थे हम, चार मील पैदल चलना पड़ता था और कीचड़ का रास्ता था। तो स्कूल से छूटने के उपरान्त आते-आते तक तो बस बिल्कुल समझो पेट में कबड्डी का खेल प्रारम्भ हो जाता था। तेज भूख लगती थी। वहाँ से आते ही खाना परोस दो, ऐसा कह देते थे। और मालूम पड़ता था कि अभी रसोई तो बनी नहीं है, बन रही है। तो कोई बात नहीं, जो रोटी रखी हैं वही लाओ। बिना साग-सब्जी के भी चल जायेगा। कभी-कभी तो साग आ नहीं पाती थी और जो रोटी पूड़ी आदि परोसी जाती थी उसे थोड़ा-थोड़ा खाते-खाते पूरी खत्म कर देते थे। बाद में अकेली साग खा लेते थे।

तीव्र भूख का प्रतीक है यह। खीर सामने आ जाये और गरम भी क्यों न हो तो भी बच्चे लोग किनारे-किनारे से धीरे-धीरे फूँक-फूँक कर खाना प्रारम्भ कर देते हैं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है वह चारित्र लेने के लिए तत्पर रहेगा। अंदर से छटा-पटी लगी रहती है कि कब चारित्र लूं। भगवान की वीतराग छवि को देखकर उसके माध्यम से मुक्ति की ओर बढ़ने का प्रयास करता है। उदाहरण के रूप में कोई मुनि महाराज मिल जायें तो कह देता है कि अब बताने की भी जरूरत नहीं है, हम देख-देखकर कर लेंगे। यही है भव्य जीव का लक्षण। अवाक् विसर्ग

वपुषा निरूपयन्तं मोक्षमार्गम्। 'बिना बोले ही वीतरागी मुद्रा से मोक्षमार्ग का निरूपण होता रहता है।

आप लोग कहते हैं कि महाराज उपदेश दो। अलग से क्या उपदेश दें भइया। दिन-रात उपदेश चल रहा है। क्योंकि मुनि मुद्रा धारण कर लेने के उपरान्त कोई भी ऐसा समय नहीं है जिस समय वीतरागता का दर्शन न होता हो, दया का उपदेश सुनने में न आता हो। बाह्य क्रियाओं के माध्यम से भी उपदेश मिलता है। उपदेश सुनने वाला और समझने वाला होना चाहिये। सम्यग्दृष्टि इस बारे में अवश्य सोचता है। वह प्रत्येक क्रिया में वीतरागता देखता है, मुनि महाराज खड़े होकर एक बार दिनमें आहार लेते हैं। खड़े होकर खाओ तो पेट भर आसानी से खाया नहीं जा सकता है। खड़े होकर खाने में अप्रमत्त रहना होता है। थोड़ा भी यदि आसन हिल गया तो अन्तराय माना गया है।

दूसरी बात यह है कि आप सोचते होंगे कि हम तो एक ही हाथ से खाते हैं और मुनिराज तो दोनों हाथों से खाते हैं तो ज्यादा खाते होंगे। ऐसा नहीं है। थाली में खाने से तो एक हाथ की स्वतंत्रता रहती है लेकिन दोनों हाथों में लेकर खाने में सावधानी बढ़ जाती है। जरा भी प्रमाद हुआ और यदि हाथ छूट जाये तो अन्तराय माना गया है। ये सारे के सारे विधि-विधान, नियम, संयम वीतरागता के द्योतक हैं। यही निमित्त बन जाते हैं निर्जरा के लिए। इस प्रकार चौबीस घंटे, बैठते समय, उठते समय, बोलते समय, आहार-विहार-निहार के समय या शयन करते समय भी आप चाहें तो मुनियों के माध्यम से वीतरागता की शिक्षा ले सकते हैं। लेने वाला होना चाहिये।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरान्त तो चारित्र धारण करने की भूख तीव्र से तीव्रतम हो जाती है। कठिन से कठिन चारित्र पालन करने की क्षमता आ जाती है। सम्यग्दृष्टि सोचता है कि मुझे जल्दी-जल्दी मुक्ति मिलना चाहिये, इसलिए चारित्र को जल्दी-जल्दी अंगीकार कर लो। यदि चारित्र लेने की रुचि नहीं हो रही है तो इसका अर्थ यही निकलता है कि या तो टर्रा मूँग है या अभी दूरानुदूर भव्य है। आसन्न-भव्य की गिनती में तो नहीं आ रहा है। भाई, चारित्र लेने में जल्दी करना चाहिये, पीछे नहीं रहना चाहिये 'शुभस्य शीघ्रं।'

मुक्ति का मार्ग है छोड़ने के भाव। जो त्याग करेगा उसे प्राप्त होगी निराकुल दशा। यही कहलाता है वास्तविक मोक्ष, निराकुलता जितनी-जितनी

जीवन में आये, आकुलता जितनी-जितनी घटती जाये उतना-उतना मोक्ष आज भी संभव है।

आपको खाना खाते समय सोचना चाहिये कि पांच रोटी खाने से आपकी भूख मिटती है तो क्या पांच रोटी साबुत एक ही साथ मशीन जैसे डाल लेते हैं पेट में? नहीं, एक एक ग्रास करके खाते हैं। एक ग्रास के माध्यम से कुछ भूख मिटती है, दूसरे के माध्यम से कुछ और भूख मिटती है, ऐसा करते-करते पांच रोटी के अन्त में अन्तिम ग्रास से तृप्ति हो जाती है। कह देते हैं आप कि अब नहीं चाहिये। इसी प्रकार निरन्तर निर्जरा के माध्यम से एक देश मुक्ति मिलती जाती है। पूर्णतः मुक्त होने का यही उपाय है।

एकदेश आकुलता का अभाव होना, यह प्रतीक है कि सर्वदेश का भी अभाव हो सकता है। रागद्वेष आदि आकुलता के परिणामों को जितना-जितना हम कम करेंगे उतनी-उतनी निर्जरा भी बढ़ेगी और जितने-जितने भाग में निर्जरा बढ़ेगी उतनी-उतनी निराकुल दशा का लाभ होगा। आकुलता को छोड़ने का नाम ही मुक्ति है। आकुलता के जो कार्य हैं आकुलता के जो साधन हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव, इन सबको छोड़कर जहाँ निराकुल भाव जागृत हो वह अनुभव ही निर्जरा और मुक्ति है। आपने तो शायद समझ रक्खा है कि कहीं कोई कोठी या भवन बना हुआ है वहाँ जाना है, ऐसा नहीं है, कोई भवन नहीं है भइया। मोक्ष तो यहीं है आत्मा में है।

मोक्ष आत्मा से पृथक् तत्त्व नहीं है। आत्मा का ही एक उज्ज्वल भाव है। वह फल के रूप में है। सभी का उद्देश्य यही है कि अपने को मोक्ष प्राप्त करना "जिस समय मोक्ष होने वाला है उस समय हो जायेगा। मुक्ति मिल जायेगी। प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। प्रयास करने से कैसे मिलेगी, प्रयास करना फालतू है"-ऐसा कुछ लोग कह देते हैं। ठीक है भइया, यदि नियत ही आपका जीवन बन जाये तो मैं उस जीवन को सौ-सौ बार नमन करूं। आप प्रत्येक क्षेत्र में नियत अपनाओ, जो पर्याय आने वाली है वह अपने समय आयेगी, अपने को क्या करना' होता स्वयं जगत् परिणाम'- अभी तो जीवन में 'मैं करता जग का सब काम'- सारा काम तो कर रहे हैं आप।

मुक्ति मिल जायेगी। यदि सारी की सारी पर्यायें नियत हैं तो फिर इधर उधर भाग क्यों रहे हैं आप। आज आधी सभा जुड़ी है, कल पूरी सभागार भरी थी और अगले दिन सब खाली। सब यहाँ-वहाँ चले जायेंगे, यहाँ तो पार्श्वनाथ भगवान रह जायेंगे जो मुक्त हैं। यदि सब नियत है तो फिर

अभी पके नहीं हैं। दो महीने बाद पकेंगे। अब यदि कोई सोचे कि ठीक है अभी तोड़ लो, दो महीने बाद तो पकना ही है, पक जायेंगे। भइया। पकेंगे नहीं बेकार हो जायेंगे। यह क्यों हुआ? आम के पास पकने की क्षमता तो है और दो महीने चाहिये पकने के लिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें अभी तोड़कर दो महीने बाद पका लो। वे तो वहीं डंठल के ऊपर टहनी के ऊपर लगे रहे तभी पकेंगे। बाह्य निमित्त भी आवश्यक है। दो महीने तक उगते रहें, हवा पानी खाते रहें, सूर्य प्रकाश लेते रहें तभी पकेंगे।

इतना अवश्य है कि सभी आमों का नम्बर एक साथ नहीं आयेगा इसलिए यदि आप चाहें तो दो महीने से पंद्रह दिन पहले तोड़कर एक साथ पाल में रख दें, पाँच दिन तक, जो बिल्कुल एक साथ पककर आ जायेंगे। दो महीने तक ही डाल पर लगे रहे यह भी नियम नहीं रहा और दो महीने पहले तोड़कर रख लें तो पकेंगे, यह भी नियम नहीं रहा। योग्यता और बाह्य निमित्त दोनों को लेकर ही कार्य होगा।

मुक्ति के लिए आचार्यों ने बताया है कि हम ऐसे पकने वाले नहीं हैं। जिस प्रकार आम डाली के ऊपर पक जाते हैं। इस प्रकार संसार में लटकते-लटकते हमें मुक्ति नहीं मिलेगी। ''पाल विसे माली'' ऐसा बारह भावनाओं के चिंतन करते समय निर्जरा भावना में कहा है। जो आसन्न भव्य है वह अपने आत्म पुरुषार्थ के माध्यम से तप के द्वारा आत्मा को तपाकर अविपाक निर्जरा कर लेता है और शीघ्र मुक्ति पा जाता है, यही मोक्ष तत्त्व का वास्तविक स्वरूप है।

एक बात और कहता हूँ अपनी। काम कुछ करना न पड़े और लाभ प्राप्त हो जाये इसलिए हमने एक दूसरे को कह दिया कि तुम आम तोड़ो और तोड़ने के उपरान्त कच्चे ही आधे तुम्हारे और आधे हमारे हैं। हिस्सा कर लिया। अब उन्हें पकाने का ठिकाना भी अलग-अलग कर लिया किन्तु उतावलापन बहुत था। शाम को पकाने पाल में डाले और सुबह उठकर उनको दबा-दबाकर देखा कि पक गये। दो दिन में ही सारे आम मुलायम तो हो गये पर हरापन नहीं गया और मीठापन भी नहीं आया। पकने का अर्थ होता है कि मीठापन और मुलायमपन आना चाहिये।

कुछ नहीं मिला सारा काम बिगड़ गया। ध्यान रहे एकाग्रता न होने से कुछ नहीं मिल पाता।

एकाग्र होकर साधना करनी चाहिये। निराकुल होकर साधना करनी चाहिये। यहाँ तक कि आप मोक्ष के प्रति भी इच्छा मत करना। इच्छा का अर्थ है

संसार और इच्छा का अभाव है मुक्ति। मुक्ति कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे पाने कहीं जाना है, वह मुक्ति तो निराकुल भावों का उद्घाटन करना है अपने अंदर।

आज तक राग का बोलबाला रहा है। वास्तव में देखा जाये तो संसारी प्राणी के दुख का कारण है राग। 'संसार सकल त्रस्त है आकुल विकल है और इसका कारण एक ही है कि हृदय से नहीं हटाया, विषय राग को हमने हृदय में नहीं बिठाया, वीतराग को, जो है शरण तारण-तरण।' अतः अपने को वीतरागता को अपने हृदय में स्थान देना चाहिये और राग को हटाना चाहिये। राग के हटने पर ही वीतरागता आयेगी। जहाँ राग रहेगा वहाँ वीतराग अवस्था नहीं हैं, राग में धीरे-धीरे कमी लायें। राग में कमी आते-आते एक अवस्था में राग समाप्त हो जायेगा और पूर्ण वीतराग-भाव प्रकट होंगे। वह प्राणी स्वभावनिष्ठ बनेगा और सारा संसार नतमस्तक हो जायेगा।

सुख को चाहते हुए भी हम राग को नहीं छोड़ पाते इसलिए दुख को नहीं चाहते हुए भी दुख पाते हैं। राग है दुख का कारण। सुख का कारण है वीतराग। दोनों ही कहीं बाहर से नहीं आते। राग बाहर की अपेक्षा अवश्य रखता है किन्तु आत्मा में ही होता है और वीतराग भाव 'पर' की अपेक्षा नहीं किन्तु आत्मा की अपेक्षा रखता है। बाह्य की अपेक्षा का अर्थ है संसार और आत्मा की अपेक्षा का अर्थ है मुक्ति। यदि अपेक्षा मात्र आत्मा की रही आये और संसार से उपेक्षा हो जावे तो यह प्राणी मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

मुक्ति पाने का उपक्रम यही है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र-को अपनाकर निर्ग्रन्थता अपनायें। सब ग्रंथियां खोल दें। एकाकी होने का प्रयास करें। कोई व्यक्ति देश से देशान्तर जाता है तो सीमा पर उसकी जांच की जाती है कि कहीं कोई आपत्तिजनक चीज तो लेकर के नहीं जा रहा। इसी प्रकार मुक्ति का मार्ग भी ऐसा ही है कि आप कुछ छिपाकर ले नहीं जा सकते। बाह्य और अंतरंग सभी प्रकार के संग को छोड़कर जब तक आप अकेले नहीं होओगे। तब तक मुक्ति का पथ नहीं खुलेगा।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये वीतरागता के प्रतीक हैं। इन तीनों के साथ कोई बाह्य आडम्बर नहीं रह सकेगा, सांसारिक परिग्रह नहीं रहेगा। एक मात्र शरीर शेष रह जाता है और उसे भी परिग्रह तब माना जाता है जब शरीर के प्रति मोह हो। शरीर को मात्र मोक्षमार्ग में साधक मानकर जो व्यक्ति चलता है वह व्यक्ति निस्पृह है और वही मुक्ति का भाजक बन सकता है। एक द्रव्य-मुक्ति

होती है और दूसरी भाव मुक्ति। द्रव्य-मुक्ति, भाव-मुक्तिपूर्वक ही होती है। अर्थात् भाव-मुक्ति हुए बिना द्रव्य-मुक्ति नहीं होती। द्रव्य-मुक्ति का अर्थ है नोकर्म अर्थात् शरीर और आठ कर्मों का छूटना। और भाव-मुक्ति का अर्थ है मोह भाव का हट जाना। दो व्यक्ति हैं और दोनों के पास एक-एक तोला सोना है। मान लो, उसमें एक बेचने वाला है, दूसरा बेचने वाला नहीं है। तो जो बेचने वाला नहीं है वह भावों की तरफ सोने के भाव की तरफ नहीं दौड़ेगा किन्तु जो बेचने वाला है वह भावों की ओर भाग रहा है, उसे सोने का अभाव है नींद नहीं आती ठीक से। तो सोने के लिए अर्थात नींद लेने के लिए सोने के भाव की तरफ मत देखो, सोना तब भी ज्यों का त्यों रहेगा।

मोहभाव का हट जाना ही मुक्ति है। जो भी दृश्य देखने में आ रहे हैं उन सभी के प्रति मोह हटना चाहिये। जिन-जिन वस्तुओं के प्रति आपका मोह है वही तो संसार है, और जिन-जिन पदार्थों के प्रति मोह नहीं है उन उन पदार्थों की अपेक्षा आप मुक्त हैं। पड़ौसी के पास जो धन-पैसा है उसमें आपका कोई सरोकार नहीं है लेकिन आपने अपने पास जो रख रक्खा है उसमें आपने अपना स्वामित्व माना है, उस अपेक्षा से आप बंधे हैं मुक्त नहीं हैं। मोह का अभाव हो जाये तो आज भी मुक्ति है, उसका अनुभव आप कर सकते हैं।

आज भी रत्नत्रय के आराधक, रत्नत्रय के माध्यम से अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने वाले साधक, ऐसे मुनि महाराज हैं। जो आत्म-ध्यान के बल पर स्वर्ग चले जाते हैं और वहाँ इन्द्र या लौकान्तिक देव होते हैं और फिर मनुष्य होकर मुनि बनकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। मुक्ति आज भी है और ऐसी मुक्ति कि जैसे कोई यहाँ से देहली जा रहा है, एकदम एक्सप्रेस से लेकिन वह एक्सप्रेस गाड़ी बीच में रुक कर के जाती है, पटरी नहीं बदलती, उसी पटरी पर चलती है लेकिन कुछ विश्राम लेती है डायरेक्ट नहीं जाती। आज डायरेक्ट मुक्ति तो नहीं है बीच में इन्द्र रूप या लौकान्तिक रूप स्टेशन पर रुकना पड़ता है। यह रुकना, रुकना नहीं कहलाता क्योंकि वह उस मोक्ष पथ से च्युत नहीं हुआ अर्थात् सम्यग्दर्शन छूटता नहीं है, इसलिए रत्नत्रय की जो भावना यहाँ भायी है वह रुकने के उपरान्त भी बनी रहती है। भावना रहती है कि कब रत्नत्रय मिले। इस प्रकार एक-एक समय बीतता है और श्रुत की आराधना करते हुए इन्द्र या लौकान्तिक आदि देव अपना समय व्यतीत करते हैं।

बंधुओ! मुक्ति का मार्ग है तो मुक्ति अवश्य है। आज भी हम चाहें तो रागद्वेष का अभाव कर सकते हैं। सांसारिक पदार्थों की अपेक्षा जो किसी से रागद्वेष नहीं है वही तो मुक्ति की भूमिका है। यह जीवन आज बन सकता है। सिद्ध परमेष्ठी के समान आप भी बन सकते हैं। अभी आपकी रुचियाँ अलग हो सकती हैं। धारणा अलग हो सकती है, विश्वास अलग हो सकता है किन्तु यदि व्यक्ति चूक जाता है तो अन्त में पश्चात्ताप ही हाथ लगता है। यह स्वर्ण जैसा अवसर है। यह जीवन बार-बार नहीं मिलता इसकी सुरक्षा, इसका विकास, इसकी उन्नति को ध्यान में रखकर इसका मूल्यांकन करना चाहिये।

जो व्यक्ति इसको मूल्यवान समझता है वह साधना-पथ पर कितने ही उपसर्ग और कितने ही परीषहों को सहर्ष अपनाता है। महावीर भगवान ने जो रास्ता बताया, बताया ही नहीं बल्कि उसी रास्ते से गये हैं वह रास्ता उपसर्ग और परीषहों में से होकर गुजरता है। मुनिराज इसी रास्ते पर चलते हैं। यह रास्ता वातानुकूल हो सारी की सारी सुविधाएं हों ऐसा नहीं है। मोक्षमार्ग तो यही है जो परीषह-जय और उपसर्गों से प्राप्त होता है।

उत्साह के साथ, खुशी के साथ अपना तन-मन-धन सब कुछ लगाकर मुक्ति का मार्ग अपनाना चाहिये। इस बार निश्चय करें कि हे भगवान् अपने को किस प्रकार मुक्ति मिले। मुक्ति तो अविपाक निर्जरा का फल है और अविपाक निर्जरा तप के माध्यम से होती है तो हम तप करें। भगवान से प्रार्थना करें और निरन्तर भावना करें कि हमारे मोहजन्य भाव पलट जायें और मोक्षजन्य भाव जो हैं, जो निर्विकार भाव हैं, वे जागृत हों।

□□

अनेकान्त

पूज्य गुरूदेव (स्व. आचार्य ज्ञानसागर जी) के सान्निध्य में मेरा 'दर्शन' (फिलॉसफी) का अध्ययन चल रहा था। उस समय के विचार या भाव आज भी मेरे मानस में पूर्ववत् तरंगायित हैं। मैंने पूछा- "महाराज जी! आपने कहा था कि मुझे न्याय-दर्शन का विषय कठिनाई से हस्तगत होगा, इसका क्या कारण है? वे बोले- देखो, प्रथमानुयोग- पौराणिक कथाओं और त्रेशठ शलाकापुरुषों का वर्णन करने वाला है वह सहज ग्राह्य है। करणानुयोग-भूगोल का ज्ञान कराता है, दूरवर्ती होने के कारण उस पर भी विश्वास किया जा सकता है। चरणानुयोग में आचरण की प्रधानता है, अहिंसा को धर्म माना है। किसी को पीड़ा दो- यह किसी भी धर्म में नहीं कहा गया इसलिए यह भी सर्वमान्य है। किन्तु द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत आगम और अध्यात्म ये दो प्ररूपणायें चलती है। प्रत्येक आत्मार्थी, अध्यात्म को चाहता है अतः जहाँ पर इसका कथन मिलता है वहाँ तो साम्य हो जाता है परन्तु 'आगम' में साम्य नहीं हो पाता।

'ध्यान' के विषय में भी सब एकमत हैं। ध्यान करना चाहिये- मुक्ति के लिए यह अनिवार्य है किन्तु ध्यान किसका करना? उसके लिए ज्ञान कहाँ से कैसे प्राप्त करें? यह सब 'आगम' का विषय है। आगम के भी दो भेद हैं कर्म सिद्धान्त और दर्शन। कर्म सिद्धान्त को सारी दुनिया स्वीकार करती है अपने-अपने ढंग से, दृष्टियाँ अलग-अलग हैं लेकिन कर्म को सबने स्वीकृत किया है। अब रहा दर्शन। दर्शन के क्षेत्र में तत्त्व चिन्तक अपने-अपने ज्ञान के अनुरूप विचार प्रस्तुत करते हैं। ऐसी स्थिति में छद्मस्थ (अल्पज्ञ) होने के कारण वैचारिक संघर्ष संभव है।

इतना सब सुनने के उपरान्त मैंने सहज ही पूछ लिया कि महाराज जी इस सबसे आपका क्या आशय है? वे बोले- 'देखो! षट्दर्शन के अन्तर्गत वास्तवमें जैन-दर्शन कोई अलग दर्शन नहीं है। वह इन छह दर्शनों का सम्मिलत करने वाला दर्शन है। जो छह दर्शनों को लेकर अलग-अलग भाग रहे हैं उन सभी को एकत्र करके समझने और समझाने वाला यह जैन दर्शन है।' मैंने कहा- तब तो इसके लिए सभी के साथ मिलन की और समता-भाव

की बड़ी आवश्यकता पड़ेगी। महाराज जी हँसने लगे और बोले कि इसीलिए तो मुनि बनाया है। मुनि बनने के उपरान्त समता होनी चाहिए, तभी अनेकान्त का हार्द विश्व के सामने रख सकोगे। यदि समता नहीं रखोगे तो सम्यग्दर्शन को भी नहीं समझ सकोगे।

बंधुओं! जैन दर्शन को समझने के लिए पूज्य गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट यह सूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जैन-दर्शन किसी की वकालत नहीं करता अपितु जो वकालत करने के लिए विविध तर्कों से लैस होकर संघर्ष की मुद्रा में आता है उसे साम्यभाव से सुनकर सही-सही जजमेंट लेता है, निष्पक्ष होकर निर्णय करता है।

आज हम लोगों के सामने 363 मतों की कोई समस्या नहीं उठ सकती, उन्हें समझा और समझाया जा सकता है, बशर्ते कि हम सबकी बात सुनें और समझें। किसी की बात को काटना नहीं है क्योंकि जिसका अस्तित्व है इसका विनाश संभव नहीं है। विनाश की प्रवृत्ति संघर्ष को जन्म देती है।

हमें जानना चाहिये कि अनेकान्त का हृदय है समता। सामने वाला जो कहता है उसे सहर्ष स्वीकार करो क्योंकि दुनिया में ऐसा कोई भी मत नहीं है जो भगवान् की देशना (उपदेश) से सर्वथा असम्बद्ध हो। हम दूसरे की बात समतापूर्वक सुनें और समझें। कभी-कभी ऐसा होता है कि बुद्धि का विकास होते हुए भी समता के अभाव में दूसरे के विचारों को ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ पाने से जो लाभ मिलना चाहिये वह नहीं मिल पाता।

विविध प्रकार के 363 मतों का उद्गम कहाँ से हुआ। जरा विचार करें, तो ज्ञात होगा कि इनका उद्गम तीर्थंकर की अनुभय-भाषा में खिरने वाली वाणी का सही-सही अर्थ नहीं समझ पाने से हुआ। केवलज्ञान होने के उपरान्त तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि खिरती है। यह दिव्य-ध्वनि अनक्षरी होती है। इनमें वचन अनुभय रूप होते हैं। सभी प्राणी जिसे सुनकर अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप अर्थ लगा लेते हैं। जिसका होनहार अच्छा होता है, जो पुरुषार्थ करता है वह दिव्य-ध्वनि के माध्यम से सन्मार्गपर अग्रसर हो जाता है और जिसे अभी संसार ही रुचता है वह वस्तु-स्थिति को नहीं समझता हुआ विभिन्न मतों में उलझ जाता है।

विविध 363 मतों के माध्यम से आने वाली किसी भी समस्या को जैनदर्शन का अनुयायी सहज ही झेल जाता है। कोई समस्या ही नहीं है स्याद्वादी के सामने। निष्पक्ष होकर निर्णय लेने वाले जज को कभी परेशानी

नहीं होती। वकील लोग भले ही इधर की उधर या उधर की इधर बात करते रहें लेकिन जज के मुख पर कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती। वह दोनों पक्षों को सुनता है, समझता है। दोनों पक्ष एकांगी होते हैं इसीलिए झगड़ा होता है यह बात जज जानता है। वह एक तरफा दलीलें सुनकर न्याय नहीं करता। एकांगी होकर न्याय हो भी नहीं सकता। न्याय तो अनेकान्त से ही संभव है। स्याद्वादी ही सही निर्णय लेने में सक्षम है।

यदि कोई व्यक्ति भगवान से कहता है कि आप अज्ञानी है। तो वे समता भाव से कह देंगे कि हाँ, यह भी ठीक है। आप लोग तो सुनते ही लड़ने को तैयार हो जायेंगे कि हमारे भगवान अज्ञानी नहीं हो सकते। आपके भीतर जिज्ञासा बलबती होगी। आप सोच में पड़ गये होंगे कि क्या ऐसा भी संभव है। तो भइया, कथंचित् यह संभव है। केवलज्ञानी भी कथंचित् अज्ञानी साबित हो जायेंगे। यदि आप इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा देखें तो इन्द्रिय-ज्ञान केवली भगवान को नहीं होता, इस अपेक्षा से वे अज्ञानी हो गये। आपके पास पाँच में से चार ज्ञान हो सकते हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान। लेकिन भगवान के पास तो एक ही ज्ञान है। ऐसी स्थिति में वे अज्ञानी हो गये (श्रोताओं में हँसी)। यही है सापेक्ष दृष्टि। इसी को कहते हैं अनेकान्त दर्शन।

एक नैयायिक मत है जो 'ज्ञानादिविशेष-गुणाभाव: मुक्ति:'- ज्ञानादि विशेषगुणों के अभाव को मुक्ति मानता है। भगवान कहते हैं कि हाँ, कथंचित् आपकी बात भी ठीक है। 'ठीक है'- ऐसा कहने से उसका स्वागत हो जाता है। मित्रता बन जाती है, वह आकर समीप बैठ जाता है। सम्यग्दर्शन कोई मोम का थोड़े ही है कि पिघल जाये। आप सोचते हैं कि ऐसा करने से कहीं मेरा सम्यग्दर्शन न टूट जाये। सम्यग्दर्शन में सर्वाधिक दृढ़ता होती है। वज्र टूट सकता है लेकिन सम्यग्दर्शन ऐसा खण्डित नहीं होता। अत: पहले सामने वाले की बात स्वीकार करो फिर अनेकान्त के माध्यम से समझाओ कि देखो, चार ज्ञान का तो अभाव, केवलज्ञान होने पर हम भी मानते हैं। केवलज्ञान विशेष नहीं सामान्य है, शक्ति की अपेक्षा वह तो हमेशा बना रहता है। केवल अर्थात् नथिंग एल्स, ऑनली नालेज- कुछ भी नहीं मात्र ज्ञान।

ज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव हो जाता है, तो विशेष को जैन-दर्शन में पर्याय माना है और पर्याय का अभाव तो होता ही है। गुण का अभाव कभी

नहीं होता। गुण त्रैकालिक होता है यह बात भी माननी चाहिये। इस प्रकार मित्रता के माहौल में सारी बात हो तो धीरे-धीरे अनेकान्त के माध्यम से आँख खुल सकती है। संसार में जो विचार वैषम्य है उसका कारण है दृष्टि की संकीर्णता। आचार्य कहते हैं कि विचार-वैषम्य को यदि मिटाना चाहते हो तो दृष्टि को व्यापक बनाना होगा। सभी के विचार सुनकर अनेकान्त के आलोक में पदार्थ का निर्णय करना ही समझदारी है।

अनेकान्त की प्ररूपणा के लिए सहायक है नयवाद। भगवान ने केवलज्ञान के माध्यम से जो भी जाना उसकी प्ररूपणा की नयवाद के माध्यम से। यद्यपि केवली भगवान 'अपगत श्रुत' माने जाते हैं फिर भी उनको द्रव्यश्रुत का आलम्बन लेना पड़ता है। वे वचन योग के माध्यम से उसे लेकर द्वादशांग वाणी के स्रोत बन जाते है इसलिए मूलकर्त्ता वही हैं। उन्होंने सारी बात जानकर यही कहा है कि किसी की बात काटो मत, सबकी सुनो, समझो और जहाँ भी थोड़ी गलती हो रही है उसे सुधारने का प्रयास करो। तभी वस्तु के बारे में ठीक-ठीक ज्ञान होगा।

नय, एक-एक धर्म के विश्लेषक हैं और धर्म एक ही वस्तु में अनन्त माने गये हैं। 'अनेकान्तात्मक वस्तु' या 'अनन्तधर्मात्मकं वस्तु'। वस्तु अनेक धर्मों को लिए हुए है। अनेके: अन्ता: धर्मा: यस्मिन् विद्यन्ते इति अनेकान्त:- अर्थात् अनेक धर्म जिसमें समाविष्ट है ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तु है। उसे जानने के लिए छद्मस्थ का ज्ञान सक्षम नहीं है। इसलिए उस ज्ञान से प्रत्येक धर्म का आंशिक ज्ञान तो हो सकता है किन्तु सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता। अत: वस्तु नित्य है, अनित्य है, ध्रुव है, अध्रुव है इस प्रकार एक-एक धर्म की प्ररूपणा करते हैं। भगवान ने केवलज्ञान के द्वारा जो कुछ देखा-जाना वह सब प्ररूपित नहीं है, वह तो अनन्त है। श्रुत को अनन्त नहीं माना, अनन्त का कारण अवश्य माना है। जितने शब्द-भेद हैं, जितने विकल्प हैं, उतने ही श्रुत है। श्रुत अनन्त नहीं, असंख्यात है। यदि हम विकल्पों में ही उलझे रहे तो केवलज्ञान प्राप्त नहीं होगा। इसलिए वाद-विवाद से परे निर्विवाद होने के लिए, केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेकान्त का अवलंबन लिया गया है।

वास्तव में अनेकान्त कोई वाद नहीं है। अनेकान्तात्मक वस्तु है और उसका प्ररूपण करने वाला वाद है स्याद्वाद। वस्तु में जो अनेक धर्म हैं उनका प्ररूपण करने वाला जो श्रुत है वह एक अंश को पकड़ने वाला, एक धर्म को पकड़ने वाला है। यही स्याद्वाद है। स्याद्वाद का अर्थ ही कथंचित्वाद

या नयवाद है। यह बहुत गूढ़ है, इसे चक्र की उपमा दी गयी है। नयचक्र कहा गया है। मैं इस ओर आपका ध्यान ले जाना चाहता हूँ। जब कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध हो रहा था, द्रोणाचार्य कौरवों की ओर हो गए। चक्रव्यूह की रचना की गयी। पांडवों की ओर से अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु जिसे 'वीर' की उपाधि दी गयी थीं, कौरवों द्वारा निर्मित चक्रव्यूह में विजय-प्राप्ति की अभिलाषा से प्रवेश कर गया। वह प्रवेश तो कर गया क्योंकि प्रविष्ट होने का ज्ञान तो उसे था पर निकलने का नहीं था। ठीक ऐसा ही आज हो रहा है। अनेकान्त का, स्याद्वाद का सहारा ले तो लेते हैं लेकिन ठीक-ठीक समझ नहीं पाने से उसी में उलझकर रह जाते हैं।

अनेकान्त का सहारा लेकर स्याद्वाद के माध्यम से प्ररूपणा करने वाला व्यक्ति बहुत ही धीरे-धीरे गम्भीर होता है, समीचीन दृष्टि वाला होता है। वह निर्भीक होता है लेकिन ध्यान रखना, निर्दयी कदापि नहीं होता। निर्दयी होना और निर्भीक होना- एक बात नहीं है। कभी-कभी हम कोई बात जोर से कहते हैं। तो आपको लगता होगा कि महाराज! बहुत जोर से बोलते हैं इसलिए कषाय तो होती होगी। तो भइया! आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि कषाय के साथ संक्लेश परिणामों का अविनाभाव संबंध नहीं है। 'ण कासायउड्ढी असादबंधकारणं तक्काले सादस्स वि बंधुवलंभा'। अर्थात् कषाय की वृद्धि असाता वेदनीय के बंध का कारण नहीं है, वहाँ सातावेदनीय कर्म का भी बंध होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आप लोग कषाय करना प्रारम्भ कर दें, नहीं, ऐसा मत करना। यहाँ आशय इतना ही है कि सही बात जोर से भी कही जाये, एक बार ही नहीं बार-बार कही जाये, तो इसमें सत्य का समर्थन है, उसे बल मिलता है। जैसे आप लोग मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि दो तीन बार तक कहते हैं और जोर-जोर से कहते हैं। ऐसा कहते हुए भी होश नहीं खोते। वहाँ जोश अवश्य होता है पर रोष नहीं होता।

'वादार्थी विचराम्यहं नरपते! शार्दूल विक्रीडितम्- आचार्य समन्तभद्र स्वामी की बात बड़े मार्के की है। वे कहते हैं कि मैं सिंह के समान सत्य को कहने के लिए विचरण करता हूँ। यह निर्भीकता की बात है। यहाँ संक्लेश नहीं है। सिंह के स्वभाव के बारे में भी आपको जानकारी होनी चाहिये। सिंह मनुष्य की

1. धवला पुस्तक 6. पृ.182 'कषायों कि वृधि होने पर भी वहाँ सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है तथा कषायों की हानि होने पर भी छठे गुणस्थान तक असाता का बन्ध होता रहता है अत: कषाय वृद्धि को संक्लेश का लक्षण नहीं माना जा सकता। (विशेषार्थ, 6/182)

तुलना में अधिक दयावान है। कर्म सिद्धान्त कहता है कि सिंह यदि कषाय भी करे तो उसके फलस्वरूप पंचम नरक तक जा सकता है परन्तु मनुष्य की कषाय इतनी तीव्र होती है कि सप्तम नरक का भी उद्घाटन कर सकता है।

अनेकान्त के रहस्य को पहचानना चाहिये। दूसरे का विरोध करने की आदत ठीक नहीं है। कोई कुछ कहे उसे सर्वप्रथम स्वीकार करना चाहिये। कहना चाहिये कि हाँ भाई, आपका कहना भी कंथचित् ठीक है। 'भी' का अर्थ अनेकान्त और 'ही' का अर्थ है एकान्त। 'भी' में कथंचित् स्वागत है और 'ही' में आग्रह है, दूसरे को नकारना है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और अस्तिक्य ये चार गुण सम्यग्दर्शन के लक्षण है। प्रत्येक द्रव्य के पास जो अस्तित्व है उसे नकारा नहीं जाना चाहिये। जो उसे नकार देता है तो सोचिये उसके पास सम्यग्दर्शन रह कैसे सकता है। द्रव्य पर श्रद्धान रखने वाला मात्र अपने आत्मा पर ही श्रद्धान नहीं रखता, इसलिए आत्मद्रव्य की भाँति जो अन्य द्रव्य हैं उन पर भी श्रद्धान आवश्यक है। वस्तु को प्रत्येक पहलू से देखना, समझना और निराग्रही होकर स्वीकार करना, यही अनेकान्त के रहस्य को समझना है।

स्याद्वाद को समझने के लिए नयों की व्यवस्था की गयी है। नयों के बिना हम ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। 'नय' शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ है जो ले जाता है वह नय है। 'नयति इति नय:।' कहाँ ले जाता है? तो कहना होगा कि अनेकातात्मक वस्तु की ओर ले जाता है। इतना ही नहीं, यह भी समझना होगा कि एक ही नय इसके लिए सक्षम नहीं है। नय का एक अर्थ ऐसा भी है कि 'नय एव नयनं-' नय ही नयन अर्थात् आँख है। आँख सभी के पास है। लेकिन कितनी हैं। सभी कह देंगे कि दो हैं। तो ऐसे ही नय भी कम से कम दो हैं। दोनों आँखों से देखकर ही सही निर्णय लिया जा सकता है। जब दोनों आँखे आपस में लड़ती हैं तब आत्मा को दुख हो जाता है।

समझने के लिए यदि दाहिनी आँख दांयी और पड़ी वस्तु देख रही है और आप दोनों आँखों के बीच नाक पर एक दीवार खींचकर पार्टीशन बनाले फिर देखें तो ज्ञात होगा कि उस समय दूसरी बायीं आँख किसी अन्य वस्तु को अपना विषय नहीं बनाती बल्कि सहयोगी बनती है। यदि आप जबरदस्ती दोनों आँखों से दो अलग चीजों को विषय बनाना चाहेंगे तो माथे में दर्द होने लग जाएगा। देख लेना, आप इसे स्वयं करके।

एक बात और कि आँखों के द्वारा वस्तु को देखना है तो एक आँख को गौण करना होता है। बंद करना होता है। अभी तीन-चार दिन पूर्व ही पण्डित जी की आँख की जांच चल रही थी आँगन में, तो डाक्टर (आई-स्पेशलिस्ट) ने कहा था- पण्डित जी! एक आँख हाथ से बंद कर लीजिये। पण्डित जी ने एक आँख पर हाथ रख लिया थोड़ी देर बाद उसने कहा-अब इसे खोल लीजिए और दूसरी आँख बन्द कर लीजिए। यह सब क्या है? सोचिये, पण्डित जी को दोनों आँखों से देखना चाहिये, अच्छा देखने में आयेगा। लेकिन ऐसा नहीं है। डाक्टर का निर्णय ही सही है। एक आँख दूसरे की सहयोगी बनती है और मुख्य गौण रूप से काम करती है। जब दूरबीन आदि से दूरवर्ती वस्तु को या सूक्ष्मदर्शी के द्वारा सूक्ष्म वस्तु को आप देखते हैं तो भी एक आँख बंद कर ली जाती है। वह गौण हो जाती है। यही बात नय के विषय में है।

नय जो है उसके माध्यम से समग्र वस्तु का ग्रहण नहीं हो पाता इसलिए मुख्य रूप से दो नयों की व्यवस्था है और वे हैं व्यवहार नय और निश्चय नय। दोनों नय उपयोगी हैं। अमृतचंद्र आचार्य ने समयसार कलश में लिखा है कि देखो! जो व्यवहार नय को नहीं मानोगे तो आत्मा का कल्याण नहीं हो सकेगा। एक प्रकार से कहा जाए तो व्यवहार नय का अर्थ है विश्व-कल्याण और निश्चय नय का अर्थ है आत्म-कल्याण। लेकिन ध्यान रखना मात्र निश्चय नय से आत्म-कल्याण तो कर ही नहीं सकते, विश्व-कल्याण भी नहीं कर सकते। जिसको आत्मा का कल्याण करना है उसे चाहिये कि दुनिया के सारे गोरख धंधे छोड़कर मुनिव्रत धारण कर लें। समता-भाव पूर्वक दोनों नयों को आलम्बन लेना होगा।

भगवान ने निश्चय नय से अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में रहकर बिना किसी सहारे के जाना है। निश्चय नय से वह आत्मज्ञ है। साथ ही व्यवहार नय से वे सर्वज्ञ भी है। इसलिए उन्होंने दोनों नयों का कथन करके व्यवहार नय को 'पर' के लिए रखा और निश्चय नय को 'स्व' के लिए। अत: स्व-पर के भेदविज्ञान के माध्यम से ही 'प्रमाण' की ओर बढ़ा जाता है।

एक नदी के तट पर मैं एक बार गया था। बहुत सुहावना दृश्य था। नदी बह रही है निर्बाध गति से, लहरें नहीं है, नदी शान्त है। जब नदी की ओर देखना बंद करके तट की ओर दृष्टिपात किया तो विचार आया ओहो! नदी कोई अलग चीज और तट कोई अलग चीज है। मूल के बीच अर्थात् तटों

के बीच बहने वाली नदी है। एक ओर का कूल (तट) दूसरे ओर के कूल (तट) के लिए जो प्रतिकूल ही है। एक की दिशा दक्षिण है तो दूसरे की उत्तर की ओर है। एक पूर्व की ओर है तो दूसरे की पश्चिम की ओर। दोनों पृथक्-पृथक् हैं। कभी मिलेंगे भी नहीं, मिल भी नहीं सकते। जैसे रेखागणित में बताया कि समानान्तर रेखाएँ कभी मिलती नहीं है, ऐसा ही यहाँ है। नदी के दोनों तट एक-दूसरे के प्रतिकूल हैं। परन्तु बंधुओं! एक कूल दूसरे के लिए प्रतिकूल होकर भी नदी के लिए तो अनुकूल ही है। इसी तरह व्यवहार नय, निश्चय नय के लिए और निश्चय नय-व्यवहार नय के लिये अनुकूल न होकर भी 'प्रमाण' के लिए अनुकूल हैं और प्रमाण ----- प्रमाण तो नदी है।

जिनेन्द्र भगवान की दिव्य ध्वनि हम लोगों के लिए प्रमाण है, नदी के समान निर्मल है। जो लोग निश्चय नय या व्यवहार नय को लेकर लड़ रहे हैं वे नदी को ही समाप्त कर रहे हैं। अभी साढ़े अठारह हजार वर्ष शेष हैं अभी पानी बहुत पीना हैं। अभी ऐसे लोग भी आयेंगे जो दोनों तटों को सुदृढ़ बनायेंगे, इतना मजबूत बनायेंगे कि नदी अबाध रूप से, अनाहत गति से बहती चली जाए। महावीर भगवान की दिव्य-ध्वनि एक निरन्तर प्रवाहमान निर्झर के समान है। आप उस शीतल वाणी रूपो जल को पी कर तृप्त होएं। तट कुछ भी नहीं है परन्तु तट के बिना सुस्वादु पानी भी प्राप्त नहीं होगा। एक भी तट विच्छिन्न हो जाता है तो नदी का पानी छिन्न-भिन्न होकर समाप्त हो जाता है। इसलिए दोनों तटों को रखिये और उस प्रमाण रूपी नदी में अवगाहन कीजिये जिसमें आत्मानुभूति सम्भाव्य है।

नयों को ठीक-ठीक नहीं समझने के कारण यह संसारी प्राणी विभिन्न मत मतान्तरों में उलझ जाता है। मात्र तट की ही सेवा करने वाला कभी पानी नहीं पी सकेगा। हम तो कहते हैं कि कोई अनादिकालीन प्यासा व्यक्ति होगा तो वह सीधा डुबकी लगाये बिना नहीं रहेगा। डुबकी तट में नहीं लगायी जाती, हाँ इतना अवश्य है कि तट के माध्यम से डुबकी लगायी जायेगी। जो इस ओर से आयेगा वह इस तट की प्रशंसा करेगा, उधर से आने वाला उस तट की प्रशंसा करेगा लेकिन तट पर ठहरेगा नहीं, डुबकी लगायेगा तभी गहराई मिलेगी, जहाँ बस आनन्द ही आनन्द है। मैं डुबकी लगा रहा हूँ तो मुझे आनन्द हो रहा है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि इधर-उधर तट की ओर मत देखो, शीघ्र ही अपनी प्यास बुझा लो।

अमृतचंद्र आचार्य ने एक स्थान पर पुण्य-पाप अधिकार में यह उल्लेख किया है कि नय दो हैं मुख्य रूप से -निश्चय और व्यवहार। जो व्यक्ति एकमात्र व्यवहार नय के माध्यम से क्रियाकाण्ड में फँस जाते हैं वे आत्मानुभूति से वंचित रह जाते हैं और जो निश्चय नय का महत्व क्या है यह नहीं समझते और मात्र निश्चय, निश्चय रटते चले जाते हैं वे भी डूब जाते हैं। उन्होंने कहा है -ज्ञाननयैषिणः - अर्थात् जो ज्ञान को भी एकान्त रूप से मानकर चले जाते हैं वे भी डूब जाते हैं। दोनों नयों को जानकर भी जो असंयमी रह जाते हैं वे भी डूब जाते हैं। जो संयमी हैं, अप्रमत्त है वे ही तैर पाते हैं।

ज्ञान बिना रट निश्चय-निश्चय, निश्चय-वादी भी डूबे,
क्रियाकलापी भी ये डूबे, डूबे संयम से ऊबे।
प्रमत्त बनकर कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे,
आत्मध्यान में लीन, किन्तु मुनि तीन लोक पै तैर रहे॥

यहाँ पर आचार्य द्वारा प्रयुक्त 'प्रमत्त' शब्द समझने योग्य है। प्रमाद के ही फलस्वरूप यह जीव संसार में भटकता रहा है। प्रमाद एक ऐसा प्रत्यय है जो बाहर भटकता है। आत्मा के लिए आत्मा की ओर जाने में एक प्रकार का व्यवधान उपस्थित कर देता है। प्रमाद अर्थात् 'कुशलेषु अनादरः प्रमादः।' भीतर जो आत्म-तत्व के प्रति तनिक-सा भी आलस्य आ जाता है उसका नाम प्रमाद है। जिसमें हमारा हित निहित है उसके प्रति किसी भी प्रकार की आलस्य-प्रवृत्ति ही प्रमाद है। अनादिकाल का यह प्रमाद,, हम लोगों का हटा नहीं है।

स्व-त्वमार्य जीविते कामसुखे च तृष्णया, दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः ।
तवामार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवान्, अजागरे वात्म विशुद्धवर्त्मनि ॥

हे भगवन्! आपने बड़ा अद्भुत काम किया। क्या किया? देखो दिन रात यह संसारी प्राणी कहाँ फँसा हुआ है? कहाँ अटका हुआ है? इन्द्रियों के सुख की तृष्णा से पीड़ित होकर दिन में तो नाना प्रकार से परिश्रम करके थक जाता है और रात्रि होने पर बिस्तर पर ऐसा गिर जाता है जैसा कि मुहावरे में कहा है कि घोड़े बेचकर सोता है। उसे होश भी नहीं रहता किन्तु रात भर सोकर जब पेट पुनः खाली हो जाता है तो फिर उठता है और वही क्रम शुरू हो जाता है ऐसा करते-करते अनन्तकाल व्यतीत हो गया। लेकिन हे भगवन्! आप आत्मा को शुद्ध करने वाले मोक्षमार्ग में जागते ही रहे दिन रात। यही अप्रमत्त दशा आपकी श्रेयस्कर है।

मैं यही कहना चाहूँगा कि वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त कोई 'वाद' नहीं है। वस्तु का समीचीन कथन करने वाला स्याद्वाद अवश्य है, जो सब वादों को खुश कर देता है। जो कोई भी एकान्त को पकड़े हुए है उसे स्याद्वाद के माध्यम से जो कुछ देने योग्य है, दे देना चाहिये। जैसे एक व्यक्ति विजय पाने युद्ध क्षेत्र में जा रहा है और मात्र तलवार लेकर खड़ा है तो आप क्या कहेंगे उसे, 'कि तू गलत है, रणांगण में जाने की तुझे कोई बुद्धि नहीं है, विवेक नहीं है, तुझे विजय प्राप्त नहीं हो सकती।' नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है। उससे कहना होगा कि भइया! आपने तलवार तो ले ली, यह बहुत अच्छा किया, दूसरे पर प्रहार किया जा सकता है लेकिन आत्म-रक्षा तो नहीं की जा सकती। अतः एक ढाल भी ले लेना चाहिये।

निश्चय नय ढाल की तरह है, आत्मा की सुरक्षा करता है और व्यवहार नय तलवार के समान है जो 'पर' के ऊपर वार करने के काम आता है। इस आत्म-सुरक्षा के लिए 'निश्चय' रखो और दूसरे के लिए- उसे समझाने के लिए 'व्यवहार' को अपनाओ। तलवार और ढाल के बीच एक समन्वय है, दोनों का जोड़ा (युग्म) है। दोनों से सज्जित सैनिक ही अपने बाहुबल से विजय प्राप्त कर सकता है। करता भी है। जिसके पास निश्चय रूपी ढाल है वह आत्मा के स्वभाव की ओर ध्यान रखेगा उसकी सुरक्षा करेगा और विषय कषायों को जिनको तोड़ना है, जिनको छोड़ना है उन्हें तलवार रूपी व्यवहार के माध्यम से हटाता चलेगा। व्यवहार नय को छोड़ो मत, उसे निश्चय के साथ रखो। व्यवहार सापेक्ष निश्चय और निश्चय सापेक्ष व्यवहार ही मोक्ष मार्ग में कार्यकारी है। मात्र व्यवहार ही नय से तीन काल में भी केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा, नहीं होगा, नहीं होगा। साथ ही व्यवहार के माध्यम से समता धारण किये बिना, निश्चय नय का विषय वीतराग-विज्ञान भी नहीं मिलेगा, नहीं मिलेगा, नहीं मिलेगा।

अब इसके आगे और क्या कहूँ, भइया! आपका समय पूरा हो गया। हम तो यही कहना चाहते हैं कि अपने विवेक को जाग्रत रखो। यदि षट्दर्शनों का अध्ययन करोगे तो आपको स्वतः ज्ञात हो जाएगा कि अनेकान्तात्मक वस्तु क्या है? जब 'अष्टसहस्त्री' और 'प्रमेयकमल मार्तण्ड'- इन ग्रंथों को मैं पढ़ रहा था, महाराज जी (पूज्य आचार्य ज्ञानसागर जी) के पास तो वे शंकित हुए कि मैं इसमें सफल हो पाऊँगा या नहीं किन्तु यह मात्र आशंका ही सिद्ध हुई। जो समझ गया इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस व्यक्ति के समता आ जाएगी,

वह सारे के सारे विरोधी प्रश्नों को पचा जायेगा और उनके सही-सही उत्तर देने में सक्षम हो जयेगा। समता के बिना ममता के साथ यदि प्रमत्त दशा में जीवन-यापन करोगे तो विजय-श्री का वरण नहीं कर सकोगे।

वह भी एक समय था जब भगवान महावीर के जमाने में अनेकान्त की प्रशंसा होती थी लेकिन आज अनेकान्त को मानने वाले स्याद्वाद के अभाव में परस्पर विवाद कर रहे हैं। अन्य जैनेतर भाई कहते हैं कि भइया! आपके पास तो स्याद्वाद रूपी एक ऐसा अचूक नुस्खा है कि आप हमारी, अपनी और सभी को समस्या को निपटा सकते हैं लेकिन आज आप स्वयं ही आपस में क्यों झगड़ रहे हैं? उन्हें भी विस्मय होता है। इसलिए बंधुओं! समता धारण करो। यदि कोई व्यक्ति एकान्त पकड़ लेता है तो भी आपका यदि वीतराग समता भाव है तो अवश्य उस पर प्रभाव पड़ सकता है। धीरे-धीरे उसे सत्य समझ में आने लगेगा। स्याद्वाद का अर्थ- 'मेरा ही सही'- ऐसा है। 'ही' से 'भी' की ओर बढ़ना- यह स्याद्वाद का लक्ष्य है।

6 के आगे 3 हों तो 63 बनता है और 3 के आगे 6 हो तो होंगे। 36। 36 की स्थिति में तो अनेकान्तात्मक वस्तु मिट जाती है, स्याद्वाद समाप्त हो जाता है। जब 63 हों तो मिलन की स्थिति होती है संवाद होता है। स्याद्वादी पीठ नहीं दिखाता किसी को। पीठ दिखाने का अर्थ है उपेक्षा करना, घृणा करना। एक दूसरे की ओर मुख किये हुए 6 और 3 अर्थात् 63, यह 63 शलाका पुरुषों के प्रतीक है। आज तिरेसठ शलाका पुरुष वर्तमान में यहाँ नहीं है तो भी उनके द्वारा उपदेशित अनेकान्त दर्शन, सभी दर्शनों और मत-मतान्तरों के बीच समाधान करने वाला है। एकान्त को लिए हुए जो ज्ञान है वह अहितकारी सिद्ध होता है। अनेकान्तात्मक ज्ञान हमारे लिए हितकारी है। अनेकान्त को मानने वाले जैन लोग है। एक व्यक्ति ने सुझाया था कि 'जैन' शब्द की अपेक्षा जैनी शब्द ठीक है। अंग्रेजी में 'JAIN' शब्द में एक आई (I) है। आई (Eye) का एक अर्थ आँख भी है। 'JAINI' शब्द में दो आई यानी दो आँखे हैं। यह अनेकान्त की प्रतीक है। दो आँखें दो नय के समान हैं। दोनों नयों के माध्यम से हम प्रमाण (ज्ञान) को समीचीन रूप से आत्मसात कर सकते हैं। इसी में हमारा आत्मकल्याण भी निहित है।

मेरा आपसे यही कहना है कि सब वादों में जितने भी वाद हैं, विवाद है उनके बीच संवाद बनायें। स्याद्वाद के माध्यम से वस्तु-स्थिति को समझे और सत्य को प्राप्त करें। सुख की उपलब्धि का यही मार्ग है। □□

प्रवचन पंचामृत-

जन्म : आत्म - कल्याण का अवसर

पंच-कल्याणक की प्रत्येक क्रिया का विश्लेषण करना तो विद्वानों और गणधरपरमेष्ठी के लिए भी शक्य नहीं पर फिर भी 'क्या छोड़ना है और क्या ग्रहण करना है'- यह ज्ञान यदि हमें इन पाँच दिनों के अन्दर हो जाता है तो यह हमारा सौभाग्य होगा। धर्म की अधिकांश बातें सूक्ष्म हैं और परोक्ष हैं। हमारे इन्द्रिय-ज्ञान-गम्य नहीं है। फिर भी पूर्वाचार्यों ने उन सभी बातों को कहने और लिपिबद्ध करके हमें समझाने का प्रयास किया है। उसे साहित्य के माध्यम से हमें समझने का प्रयास करना चाहिए। साथ ही इन शुभ-क्रियाओं को देखकर अपने जीवन को सँभालने का प्रयास करना चाहिए।

कल जहाँ संध्या के समय हम सामायिक करने वाले थे वहाँ कुछ लोग आये और कहने लगे- महाराज! कल जन्म-कल्याणक महोत्सव है। आप भी जुलूस के साथ पांडुक शिला तक चलें और कार्यक्रम में सम्मिलित होवें तो अच्छा रहेगा। हम सभी को बड़ा आनन्द आयेगा। तो हमने कहा- भैया! हमारा कार्य तो दीक्षा कल्याणक के दिन से ही शुरू होगा। अभी तो आपका कार्य है, आप जाओ और मैं नहीं आया। यद्यपि मेरे पास समय था, मैं आ सकता था, लेकिन नहीं आने के पीछे कुछ रहस्य भी था, जिसके माध्यम से कुछ बातें आपको समझानी थीं।

यह मैं भी जानता हूँ कि जन्म-कल्याणक में सौधर्म इन्द्र आता है। अपने हाथों से बालक आदिनाथ को उठाने का सौभाग्य पाता है और जीवन को कृतकृत्य मानता है। इन्द्राणी-शची भी इस सौभाग्य को पाकर आनन्द-विभोर हो जाती है और अपने सांसारिक जीवन को मात्र एक भव तक सीमित कर देती है। इस अवसर को प्राप्त करके वह नियम से एक भव के पश्चात् मुक्ति को पा लेती है। इतना सौभाग्यशाली दिन है यह। फिर भी हमारे नहीं आने के पीछे रहस्य यह था; बंधुओं! हमारा धर्म वीतराग-धर्म है। जन्म से कोई भी भगवान नहीं होता। जिनकी धारणा हो कि भगवान जन्म लेते हैं तो वह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर तो गृहस्थाश्रम में ही मुक्ति माननी होगी और राग के बाद केवलज्ञान मानना होगा जो कि संभव नहीं है। जन्म-कल्याणक और जन्माभिषेक तो राग-दशा

में होते हैं। इसमें आप सम्मिलित हों यह तो आपका कर्तव्य है। क्योंकि सरागी श्रावक के लिए तो इसी में धर्म है। श्रावक की धार्मिक क्रियाओं में पूजा-प्रक्षाल-अभिषेक आदि शामिल है। अशुभ राग से छूटने तथा वीतरागता को प्राप्त करने के लिए शुभ राग का आलम्बन आवश्यक है। आपको शुभ राग के कार्यों में जितना आनन्द है उतना ही हमें वीतरागता में आता है। हमारी दशा अर्थात् साधु की स्थिति आपसे भिन्न है। जैसा अभी-अभी पंडितजी ने भी कहा था (पं. कैलाशचन्दजी सिद्धांताचार्य)। इसलिये हमारा उस अवसर पर आना सम्भव नहीं हुआ।

आपने जन्म-कल्याणक का आनन्द लिया जो आपके लिये उचित ही है लेकिन सही पूछो तो असली आनन्द का दिन कल आने वाला है। जब आदिनाथ का दीक्षा-कल्याणक होगा। वे सारे परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रंथ-दिगम्बर होकर तपस्या के लिये निकलेंगे। आपके चेहरे फीके पड़ सकते हैं क्योंकि कल से छोड़ने-त्यागने की बात आयेगी। पर बंधुओं! ध्यान रखना, आनंद तो त्याग में ही है। आप कह सकते हैं कि महाराज! कल तो छोड़ना ही है इसलिए क्यों ना हम आज ही आदिनाथ को भगवान मान लें? पूज्य मान लें? तो यह ध्यान रखना कि होनहार भगवान और साक्षात् भगवान में बहुत अन्दर है। पूज्यता तो भगवान बनने पर ही आती हैं। पंच-परमेष्ठी ही वीतराग-धर्म में पूज्य माने गये हैं। क्योंकि वे वीतरागी हो गए हैं।

जन्म कल्याणक के समय क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और करोड़ों की संख्या में देव लोग आते हैं। पांडुक-शिला पर बालक-तीर्थंकर को ले जाकर जन्म-कल्याणक मनाते हैं। अभिषेक, पूजन और नृत्य-गानादि करते हैं। रत्नों की वृष्टि होती है। जिसने आज जन्म लिया, यह जन्म लेने वाली आत्मा भी सम्यग्दृष्टि है। उसके पास मति, श्रुत और अवधिज्ञान भी है। हमारे यहाँ जिनेन्द्र भगवान के शासन में पूज्यता मात्र सम्यग्दर्शन से नहीं आती, पूज्यता तो वीतरागता से आती है। सम्यग्दर्शन के साथ जन्म हो सकता है परन्तु वीतरागता जन्म से नहीं आ सकती। इसलिये जन्म से कोई भगवान नहीं होता। जब आपका बच्चा बोलना शुरू करता है तब तोतला बोलता हैं। इधर-उधर की कई बातें भी करता है। आपको अच्छी भले ही लगती हों लेकिन वे प्रामाणिक नहीं मानी जाती क्योंकि वह अभी बच्चा है। मनुष्यायु का उदय होने पर भी बच्चे को कोई मनुष्य नहीं कहता। यह कोई नहीं कहता कि मनुष्य जन्मा है, सभी यही कहते हैं कि बच्चा जन्मा है। इसी

प्रकार जो आज जन्में हैं वे अभी भगवान नहीं है, अभी तो वे बालक आदिनाथ ही कहलायेंगे। बच्चे ही माने जायेंगे।

दूसरी बात यह भी है कि आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने उन मुनियों को भी प्रमत्त कहा है, ना समझ कहा है जो स्वात्मानुभूति से च्युत होकर शुभ-क्रियाओं में लगे हुए हैं। तब ऐसी दशा में अभी जिस आत्मा ने जन्म लिया है, जो वस्त्र-आभूषण पहने हुए हैं उसे वीतरागी मानकर, भगवान मानकर कोई मुनि कैसे पूज सकता है? मैं अभी उसका सम्मान करूँ, स्वागत करूँ यह नहीं हो सकता। अभी वह आत्मा तीर्थंकर नहीं बनी। जिस दिन वह आत्मा राग के ऊपर रोक लगायेगी अर्थात् संयम को ग्रहण करेगी; उस दिन मैं बार-बार उसे नमोस्तु करूँगा और अपने-आपको सौभाग्यशाली समझूँगा क्योंकि वह महान् भव्य आत्मा निर्ग्रन्थ दीक्षा-धारण करते ही अनेक ऋद्धियों को प्राप्त करेगी, मनः पर्यय ज्ञानी होगी, वर्धमान-चारित्र को प्राप्त करेगी और तप के माध्यम से संसार के आवागमन से मुक्त होगी, सिद्धालय में विराजेगी।

आपके मन में यह भाव आ सकता है कि महाराज! अब अभी उस आत्मा के पास पूज्यता नहीं है तो हम जन्म कल्याणक क्यों मनायें? ऐसा नहीं सोचना चाहिए। भइया! यह तो सारा का सारा नियोग है और इंद्र आकर स्वयं इस सारे कार्यक्रम को यथाविधि सम्पन्न करता है। जिसे देखकर हमें ज्ञात होता है कि एक जीवात्मा ने विगत जीवन में कैसा अद्भुत पुरुषार्थ किया, जिसका फल स्वर्गादिक में भोगकर पुनः यहाँ मनुष्य जन्म लेकर सांसारिक सम्पदा और वैभव को भोग रही है। इतना ही नहीं इसके उपरांत मुनिव्रत धारण करके मुक्तिश्री को प्राप्त करेगी। ऐसी भव्य तद्भव मोक्षगामी आत्मा की जन्म-जयंती मनाना श्रावक का सौभाग्य है, पर इसका यह आशय नहीं है कि सामान्य व्यक्ति की जन्म-जयंती मनाई जाये। आज तो यहाँ जो भी मनुष्य उत्पन्न होगा चाहे मनुष्य उत्पन्न हो चाहे मनुष्य गति से आये, तिर्यंचगति या नरकगति से आये अथवा चाहे देवगति से आये, वह सम्यग्दर्शन लेकर नहीं जा सकेगा। ऐसी दशा में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के साथ जन्म-जयंती मनाना उचित नहीं है। बंधुओं! समझो! यह कौन सी पर्याय है? कब और कैसे हमें मिली है? इसके माध्यम से कोई भी धार्मिक क्रिया बिना विवेक के नहीं करना चाहिए। जो भी धार्मिक क्रियायें करो उनको विवेक पूर्वक करो ताकि आवागमन मिट सके। कर्म के बंधन, कर्म की बेड़ियां/श्रृंखलायें ढीली हो सकें और हमारा भाग्य उज्जवल बन सके।

कर्म के बन्धन तोड़ना इतना आसान भी नहीं है कि कोई बिना पुरुषार्थ किये ही कर ले। बिना रत्नत्रय को प्राप्त किये यह कार्य आसान नहीं हो सकता। जिसे एक बार रुचि जागृत हो जाये और जो रत्नत्रय की साधना करे उसे ही यह कार्य सहज है, आसान है। जन्म से लेकर जब तक आठ वर्ष नहीं बीत जाते तब तक यहाँ सभी मिथ्यादर्शन के साथ ही रहते हैं। यह पंचमकाल है और उसमें भी हुण्डावसर्पिणी काल है। आठ वर्ष के उपरांत भी सम्यग्दर्शन हो ही जाये ऐसा नियम भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि सम्यग्दर्शन हुआ भी या नहीं हुआ- यह ऐसे मालूम नहीं पड़ सकता क्योंकि जो अस्सी साल के वृद्ध हो गये और अभी रत्नत्रय उपलब्ध नहीं हुआ, जीवन में त्याग नहीं आया तो सम्यग्दर्शन का क्या भरोसा? रत्नत्रय की उपलब्धि ही वास्तविक उपलब्धि है। आप लोग धन के अभाव में दरिद्रता मानते हैं पर वास्तविक दरिद्रता तो वीतरागता के अभाव में होती है। राग-द्वेष और विषय कषाय ही दरिद्रता के कारण हैं। गर्भ और जन्म-कल्याणक में देवों के द्वारा होने वाले रत्नों की वर्षा से आपके घर की दरिद्रता भले ही मिट जाती हो लेकिन मोक्षमार्ग में दरिद्रता तभी मिटेगी जब हम त्याग की ओर बढ़ेंगे, वीतरागी होंगे।

आज एक भव्य आत्मा देवगति से शेष पुण्य का फल भोगने के लिये यहाँ आयी है। वह अपने जीवन काल के अन्तराल में केवल भोग में ही रची-पची रहे ऐसी बात नहीं है। वह तो सारे भोग-वैभव को छोड़कर दीक्षा ग्रहण करेगी। जो आज भोग-सम्पदा और देव-सम्पदा का अनुभव करने वाले हैं, वे होनहार भगवान आदिनाथ कल इस सारी माया-ममता को छोड़ेंगे। क्यों छोड़ेंगे? इसलिए छोड़ेंगे कि आवागमन का कारण माया-ममता ही है। 'आत्म के अहित विषय कषाय।' यही भगवान जिनेन्द्र की देशना है। हम लोगों के लिए उपदेश है। ये रागद्वेष और विषय-कषाय ही आत्मा को बन्धन में डालने वाले हैं। एक मात्र विरागता ही मुक्ति को प्रदान करने वाली है।

समयसार में कुन्दकुन्द भगवान ने कहा भी है-

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विराग संपण्णो।
ऐसे जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५७॥

राग से जीव बंधता है और वैराग्य से मुक्त होता है, यही बंध तत्व का कथन संक्षेप में जिनेन्द्र देव ने कहा है, इसलिए राग नहीं करना चाहिए। आप यह जो भी कार्यक्रम कर रहे हैं वह अपना कर्त्तव्य मानकर करें क्योंकि यही

बालक आदिनाथ आगे जाकर तीर्थंकर बनेगा और हमें वीतरागता का सदुपदेश देगा। वह स्वयं भी परिपूर्ण होगा और हमें भी सही रास्ता दिखायेगा। आगम में उल्लेख है कि दो चारण ऋद्धिधारी मुनि महाराज आकाश मार्ग से गमन कर रहे थे, तब नीचे खेलते हुए भावी तीर्थंकर बालक को देखकर उनकी धर्म-शंकायें दूर हो गयीं थीं, उन्हें समाधान मिल गया था। पर एक बात और थी कि उन मुनिराजों ने उस भावी तीर्थंकर बालक को नमोस्तु नहीं किया। सोचिये शंकाओं का निवारण हो गया, वह बालक तीर्थंकर होने वाला है। मुनि स्वयं भी मनःपर्ययज्ञान के द्वारा जान रहे होंगे परन्तु वे मुनिराज राग का समर्थन नहीं करते। वे सरागी बालक को नमस्कार नहीं करते।

एक बात और ध्यान रखना कि वीतरागी और अरागी में बहुत अन्तर है। अरागी उसे कहते हैं जिसमें रागद्वेष रूप संवेदन की शक्ति ही नहीं रहती। जिसमें जानने-देखने रूप शक्ति भी नहीं रहती अर्थात् जड़ वस्तु अरागी है। सरागी वह है जो विषय-कषाय से युक्त है। राग-द्वेष कर रहा है। और वीतरागी उसे कहते हैं जिसमें राग पहले था लेकिन अब उसने छोड़ दिया है। "विगतः रागः यस्य यस्मात् वा इति विरागः।" होनहार भगवान अभी वीतरागी बनने के लिये उम्मीदवार है और जब वीतरागी बनेंगे तभी वे तीन लोक में सभी के द्वारा पूज्यता/आदर के पात्र होंगे। तभी हम भी नमोस्तु करेंगे। यही वीतराग धर्म की महिमा है। इसे समझना चाहिए और आचार्यों ने जो अपने जीवन भर की अनुभूतियाँ को शास्त्रों में लिखा है उसके अनुरूप ही धार्मिक क्रियायें विवेक पूर्वक करनी चाहिए। सच्चे देव गुरु शास्त्र की उपासना के माध्यम से हमें अपनी श्रमण-संस्कृति को सुरक्षित रखने का प्रयास करना चाहिये। उसमें चार-चांद लगाना तो बड़े भाग्यशाली जीवों का ही कार्य है लेकिन जितना मिला है उतना ही सुरक्षित रखने का प्रयास हमें करना ही चाहिए। भइया! अभी करीब साढ़े अठारह हजार वर्ष पंचमकाल के शेष हैं। काल की अपेक्षा श्रावक धर्म और मुनि धर्म में शिथिलता तो आयेगी लेकिन शिथिलता आना बात अलग है और अपनी तरफ से शिथिलता लाना अलग बात है। आत्मानुभूति की कलियाँ धीरे-धीरे मुरझाती जायेंगी लेकिन समाप्त नहीं होंगी।

जब फसल पकने को होती है, दस बारह दिन शेष रह जाते हैं तो किसान एक बार पुनः पानी देता है। यद्यपि पानी का प्रभाव अब फसल के लिये विशेष लाभप्रद नहीं होता परन्तु फिर भी साधक तो होता ही है। इसी